सस्ता साहित्य मण्डल
सर्वोदय साहित्य माला : तिरासीवाँ ग्रन्थ

[लोक साहित्य माला : पाँचवीं पुस्तक]

[८३ : ५]

लोक-जीवन

दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर

प्रभवार्थाय भूतानां धर्म प्रवचनं कृतम् ।
सर्वोदयकरो नित्यो धर्मो धारयते प्रजाः ॥

सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली
शाखा : लखनऊ

मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री,
सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली।

संस्करण
दिसम्बर, १९३८ : २०००

मूल्य
आठ आना

मुद्रक,
एस. एन. भारती,
हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस,
नई दिल्ली।

विनय

प्रवोधिनी अेकादशी के दिन देव निद्रा छोड़कर अुठते हैं। ग़रीबों का देव भी अव जागृत हुआ है और हज़ारों वरस के वाद जनता भी गाँवों के प्रति अपना क्या धर्म है अिसे सोचने लगी है। स्वराज्य की अुपासना और स्वातंत्र्य का ध्यान करते-करते देशसेवकों को यह साक्षात्कार हुआ कि भारत की सच्ची शक्ति गाँवों में रहनेवाले हिन्दुस्तान के करोड़ों ग़रीवों और अुनकी लाखों वरस की मंजी हुअी संस्कृति के अन्दर है। अव लोग गाँवों का कीर्तन करने लगे हैं। गाँवों की सेवा तो अभी शुरू नहीं हुअी है, किन्तु अुसके माहात्म्य की ओर नज़र तो अवश्य गअी है।

सत्याग्रह के आन्दोलन के दिनों में जो लोग जेल में गये अुनको अध्ययन-मनन का अच्छा मौक़ा मिला। वहुतसे लोगों ने अिन दिनों में जेल के अन्दर नअी भाषायें सीखलीं, आत्म-चरित्र लिखे; यूरोपीय समाजवाद और साम्यवाद का साहित्य पढ़ा और अपने दिल के असंतोष की नअी मीमांसा भी की। जिन लोगों को अपने अंदर-अदर चर्चा करने का मौक़ा मिला अुन्होंने भिन्न-भिन्न विपयों की चर्चा और अपने कार्य की योजना का निश्चय करने में जेल-जीवन से लाभ उठाया।

जव मैं वेलगाँव के हिंडलगा जेल में (सन् १९३२) था तव श्री पुण्डलीक जी मुझसे अनेक विषयों पर प्रश्न पूछते थे और अुसके जवाव मेरे पास से लिख लेते थे। ख़ास करके गाँवों का जीवन, वहाँ के सवाल, अुसकी मीमांसा, और ग्रामोद्धार की योजनायें, अिसी पर हम वातें करते थे। अेक दिन मैंने कहा कि 'किसी भी समाज को जव वुढ़ापा

आजाता है अथवा अुसमें यौवन की स्फुरण होती है अुसका कारण अुसकी धार्मिक श्रद्धा ही है, केवल मानने के लिअे लोग जिस धर्म-सिद्धान्त को मानते हैं अुससे मेरा मतलब नहीं था। जीवन को प्रेरणा देनेवाली, अुसे सुधारने या बिगाड़ने वाली, जो जीवित श्रद्धा लोगों के जीवन में प्रकट होती है अथवा पकड़ी जाती है वही अुस समाज का असली, अमली धर्म है। अुस धर्म में जब दोष आजाते हैं तब समाज मरीज या बुढ्ढ़ा हो जाता है—क्षीण होकर नामशेष भी होजाता है। और जब अुसकी श्रद्धा में परिवर्तन होजाता है तब वही प्राणदायी श्रद्धा सामाजिक जीवन में नया चैतन्य पैदा करती है और वह समाज यौवन और पराक्रम से उभरने लगता है।

अिस विषय पर मुझे कुछ विस्तार करना पड़ा और समाज का वार्धक्य दूर करने के लिअे कायाकल्प करनेवाले धर्म-विचार कौनसे हैं वह बताने पड़े। अिसी चर्चा से अिस लेखमाला का प्रारम्भ होता है। लेकिन वहाँ का अेक भी विवेचन संपूर्ण नहीं है। यहाँ जो भी कुछ है वह दिशासूचक है अिस आशा से और अिस अपूर्ण जीवन में प्रस्तुत लेखमाला का पूर्ण होना संभव नहीं है अिस भय से अिस माला को जैसे का तैसा ही प्रकाशित कर देने का निश्चय किया। हमारे सामाजिक जीवन में, हमारे अनेक सामाजिक और धार्मिक विचारों में, परिवर्तन होरहा है। नदी के मंद प्रवाह में हरी काअी (सिवार) जम जाती है, परंतु उस प्रवाह के वेगवान होते ही पानी अपनेआप स्वच्छ होजाता है। यही समाज-जीवन के बारे में भी है। नदी दो किनारों की मर्यादा में बहती है अिसी कारण अुसका प्रवाह बना रहता है। सामाजिक जीवन सत्य और अहिंसा की मर्यादा में स्वतंत्र रूप से जब बहने लगे तब वह भी संस्कारी, वेगवान, अमोघ-वीर्य और कल्याणकारी होजायगा।

यहां जो धर्म-विचार बताया गया है, वह हमारी धार्मिक परिपाटी का अनुसरण करके ही किया गया है, ऐसा मेरा विश्वास है। और इसी आस्था के अनुसार अुसपर विचार करने के लिअे पाठकों से विनय है।

अेक बात स्पष्ट करनी अत्यन्त आवश्यक होगअी है। धर्म के नाम पर समाज में अितनी कुरीतियाँ, जरठ रूढ़ियाँ, जड़ता, पाखण्ड और दम्भ चल रहे हैं कि कअी लोग धर्म का नाम तक सुनना नहीं चाहते। धर्म के नाम पर भिन्न-भिन्न जातियाँ और जमातें आपस में लड़ती रहती हैं और राष्ट्रीय प्रगति में बाधा डालती हैं, यह सब देखकर भी कअी लोग धर्म के नाम से अूब आये हैं।

'स्वर्ग नरक के और पुनर्जन्म-परलोक के ढकोसले के सहारे मतलबी ब्राह्मण, साधु और संन्यासी सामान्य जनता को अज्ञान में रखकर अुसे लूटने का रास्ता निकालते हैं। अैसे धर्म के साथ राष्ट्रोद्धार की बातें जोड़ देना कहाँ तक ठीक है?' ऐसा पूछनेवालों की संख्या भी कम नहीं है।

हमें यहाँ अितना ही कहना है कि हमारे अिस विवेचन में धर्म के मानी हैं जीवनशास्त्र और जीवनकला।

व्यक्तियों के लिअे जीवन थोड़े दिनों की चीज़ है। किन्तु सनातन समाज के लिअे जीवन व्यापक, गंभीर और अुत्कट चीज़ है। समाज के सर्वांगीण और सम्पूर्ण विकास के लिअे जो जीवनशास्त्र बनाया जाता है और जीवनकला की साधना बताअी जाती है वही धर्म है। जिस निष्ठा के अनुसार कोअी समाज चलता है वही अुसका धर्म है। ग्रामोद्धार की बातें करने के पहले हमें, हमारी जीवन-निष्ठा पहले तय कर लेनी चाहिअे। लोगों की धार्मिक मान्यतायें देखकर अिष्ट दिशा में अुनका संशोधन करके ही हम यह काम कर सकते हैं।

अिस पुस्तक में जो विचार किया गया है अुसमें ग्रामोद्धार की कोअी बनी-बनाअी योजना पाठक नहीं पायेंगे। अिसमें केवल ग्रामसेवा और ग्रामोद्धार के कार्य का चिंतन और अुसकी बुनियाद में जो तत्त्वज्ञान है अुसका दिग्दर्शन ही वहाँपर किया गया है।

अिस पुस्तक की शैली के बारे में मुझे कुछ कहना चाहिअे। अनुवाद की शैली के बारे में नहीं। अुसे पढ़ने का तो समय भी मुझे नहीं मिला है। पर अनुवाद अच्छा होगा अैसा मेरा विश्वास है क्योंकि वह भाअी मुकुटबिहारी वर्मा जैसे ज़िम्मेदार और विश्वस्त आदमी का किया हुआ है। मूल ग्रन्थ में जहाँतक हो सका मैंने विस्तार करना पसन्द नहीं किया है। गाँवों में रहनेवाले संस्कारी और विचारवान सेवकों को आर्थिक कठिनाअी में दिन व्यतीत करने पड़ते हैं। अुनको मनन करने के लिअे अगर थोड़े शब्दों में अधिक-से-अधिक मसाला दिया जाय तो वे अपनी बुद्धि, अपना अनुभव और अपनी श्रद्धा के अनुसार हरेक विचार की काफ़ी शाखा-प्रशाखायें पैदा कर सकते हैं। अैसे लोगों के लिअे कम-से-कम ख़र्चे में और थोड़ी-से-थोड़ी जगह में अधिकाधिक बातें पहुँचाने के लिअे हरेक विचार का जैसा हो सके संक्षेप ही यहाँ किया है। विचारवान लोकसेवकों को अिसमें दुरूह जैसा कुछ नहीं है।

मूलग्रन्थ मराठी में लिखा गया था और वह भी बातचीत की टिप्पणी के तौर पर। अुसी का गुजराती अनुवाद 'लोकजीवन' के नाम से 'नवजीवन प्रकाशन मन्दिर' ने छाप दिया था। विवेचन ख़ास करके महाराष्ट्र और गुजरात के ग्रामीण जीवन को ध्यान में रखकर किया गया है। किन्तु भिन्न जाति, भिन्न धर्म और भिन्न भाषा वाले अिस देश की संस्कृति और भवितव्यता प्रधानतया अेकसी है अिसलिअे मेरा विश्वास है कि यह विवेचन भारत के सभी प्रान्तों के लिअे अुपयुक्त है। कम-से-कम हरेक

स्थान के कार्यकर्ता में अेक विशेष ढंग की विचार-जागृति यह अवश्य करेगा अैसी आशा है ।

अनुवादक और प्रकाशक ने अिस प्रकार मुझे हिन्दी जनता के साथ अनायास ही विचार-विनियम करने का जो मौक़ा दिया है अुसके लिअे मैं यहाँ अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ । पाठक अगर मुझे अपने-अपने अनुभव और विचारों से संक्षेप में वाकिफ़ करने की कृपा करेंगे तो अुसे मैं अनुग्रह समझूँगा ।

प्रबोधिनी अेकादशी : १९९५
सर्वोदय कार्यालय, वर्धा

काका कालेलकर

विषय-सूची

लोक-जीवन

: १ :

धर्म-संस्करण

१

मानव-जीवन का सब दृष्टियों से विचार करनेवाला अगर कोई है तो धर्म ही है। जीवन का स्थायी या अस्थायी एक भी अंग ऐसा नहीं है जिसका विचार धर्म का कर्त्तव्य न हो।

इसलिए धर्म मनुष्य के सनातन जीवन जितना ही अथवा उससे भी अधिक व्यापक होना चाहिए, और चूंकि समस्त जीवन उसका क्षेत्र है इसलिए अत्यन्त उत्कट रूप में वह जीवित रहना चाहिए।

संसार में आज जो मशहूर धर्म हैं वे अधिकांश में ऐसे ही व्यापक धर्म हैं। अपनी स्थापना के वक्त तो वे सब जीवित ही थे। परन्तु धार्मिक पुरुषों ने बाद में भी उनके चैतन्य को बारम्बार जागृत करके उन्हें जीवित रक्खा है। अँगीठी की आग स्वभाव से ही जिस प्रकार बारम्बार मन्दी पड़ जाती है और बार-बार कोयले डालकर और फूँक मारके उसका संस्करण करना पड़ता है, उसे जीवित या जलते हुए रखना पड़ता है, इसी तरह समाज में धर्म-तेज को जागृत रखने के लिए धर्मपरायण समाज-पुरुषों को उसे फूँकने और उसमें ईंधन डालने का काम करना पड़ता है। समय-समय अगर यह काम न हो तो धर्म-जीवन क्षीण और विकृत होजाता है; और धर्म का क्षीण एवं विकृत स्वरूप अधर्म जितना ही नुक़सान करता है। धर्म को चैतन्य और प्रज्ज्वलित रखने का काम धर्मपरायण व्यक्ति ही कर

सकते हैं। धर्मग्रन्थों में यह शक्ति नहीं है, न धार्मिक रीति-रिवाजों या संस्कारों में है, न धार्मिक संस्थाओं में है, और न धर्म को आश्रय देनेवाली राज-व्यवस्था में ही है। शास्त्रगृन्थ, संस्कार, रीति-रिवाज और इसी तरह धार्मिक एवं राजनैतिक संस्थायें धार्मिक जीवन के लिए थोड़े-बहुत परिमाण में उपयोगी ज़रूर हैं; धार्मिक वातावरण स्थिर करने में उनकी सेवा बहुमूल्य भी सादित हुई है; परन्तु मूल शक्ति तो धर्मप्राण ऋषियों, सन्तों और महात्माओं की ही है। धर्म का अन्तिम आधार मनुष्य-हृदय है। उपनिषद में जो यह कहा है कि 'धर्मशास्त्रं महर्षीणां अन्तःकरणसंभृतम्' वह बिलकुल यथार्थ है।

धर्म-जिज्ञासा और धर्म-विचार तो मनुष्य का स्वभाव ही है। और इस वजह से सर्वकाल और सर्वदेशों में उन्नति की कक्षा के अनुसार मनुष्य-हृदय में धर्म का आविर्भाव होता ही है। यह हृदय-धर्म चाहे जितना कलुषित और मलिन हो, तो भी मूल वस्तु शुद्ध है। अशुद्ध सुवर्ण पीतल नहीं होता, और पीतल चाहे जितना शुद्ध, चमकदार और सुन्दर होने पर भी सोना नहीं होजाता। केवल बुद्धि के ज़ोर पर खड़ा किया गया, लोगों में रहनेवाले राग-द्वेष का लाभ उठाकर जारी किया हुआ और थोड़े-बहुत सामर्थ्यवान लोगों के स्वार्थ को पोषित करनेवाला 'धर्म' धर्म नहीं है। संस्कार-हीन हृदय की क्षुद्रवासना और दम्भ में से उत्पन्न होनेवाली विकृति को ढकनेवाला शिष्टाचार या चतुराईपूर्वक तर्क से किया हुआ उसका समर्थन भी धर्म नहीं है। अज्ञान (अर्थात् अल्पज्ञान), भोला-पन और अन्ध-श्रद्धा इन तीन दोषों से कलुषित हुआ धर्म, अधर्म की श्रेणी को पहुँच जाय तो वह बात अलग है; इसी तरह मूल में तो धर्म नहीं पर केवल अपनी चालाकी से धर्म का रूप धारण करले,

यह भी एक बुरी बात है। मनुष्य-समाज इतना मज़बूत होगया है कि मानव-इतिहास में धर्म के ये दोनों ही रूप भारी परिमाण में मिलते हैं। लेकिन इन दोनों वस्तुओं का पृथक्करण करके उनका यथार्थ स्वरूप पहचानने की तकलीफ़ मनुष्य ने अभी तक नहीं की है।

हृदय-धर्म जब बुद्धि-प्रधान लोगों में अपना काम शुरू करता है, शिष्ट-मान्य बनता है, और उससे जब वह संस्थाबद्ध होता है, तब शास्त्र बनते हैं, शास्त्रों का अर्थ लगानेवाली मीमांसा उत्पन्न होती है और अन्तिम निर्णय देनेवाले शास्त्रज्ञों का एक वर्ग खड़ा होता है अथवा अधिकारारूढ़ व्यक्तियों को स्वीकृत किया जाता है।

धर्म का शास्त्र में गुंथना और संस्था में बंधना बुद्धि प्रधान और व्यवहारकुशल लोगों के हाथों में होने के कारण, धर्म की स्वाभाविक भविष्योन्मुख दृष्टि क्षीण होती है और उसपर भूतकाल की ही तह चढ़ जाती है। भूतकाल में अग्नि की बनिस्वत राख अधिक होने के कारण धर्मतेज धुंधला पड़ जाता है, यह अलग से बताने की ज़रूरत नहीं है। इसी कारण हरेक धर्म को संस्करण की ज़रूरत रहती है।

सन्त तुकाराम जब बाज़ार जाते तो उनकी सज्जनता से लाभ उठाने के लिए बहुत से लोग अपनी-अपनी तेल की नालियां उन्हें दे देते और वह भी सन्तोष-पूर्वक उन नलियों की भारी माला गले में डालकर सौंपा हुआ काम नियमित रूप से करते थे। जन-स्वभाव ही ऐसा है। बालक या बड़े एकाध आदमी की सुन लेते हैं, यह देखा नहीं कि ग़ैर ज़िम्मेदार लोग उन्हींके ऊपर सारा बोझ डालने को तैयार हो जाते हैं। एकाध जहाज़ नियमित रूप से और तेज़ी के

साथ निश्चित मुक़ाम को पहुँचता मालूम पड़े तो उसका वेग क्षीण होजाय और वह डूबने लगे, वहाँ तक उसीमें अपना माल भरने का आग्रह लोगों में दिखाई देता है। यही कारण है कि धर्म की सार्वभौम शक्ति देखकर हरेक ग़रज़मन्द ने अपनी ग़रज़ किसी-न-किसी रूप में उसीके द्वारा साधी है, जिससे धर्म का तेज़ बारम्बार क्षीण होता रहता है।

इसलिए, कोई चलती हुई दूकान अपनी प्रसिद्धि क़ायम रखने और बढ़ाने के लिए पुराने और निकम्मे माल को जिस प्रकार बार-बार निकाल डालती है, और पड़े रहने से बिगड़े हुए माल को झाड़-झूड़कर साफ़ करती है, उसी प्रकार धर्म को भी बारम्बार अपना संस्करण करना चाहिए। परन्तु यह संस्करण ऐसे कुशल, धर्मज्ञ समाज-सेवकों के ही हाथों होना चाहिए जिनमें खरे सोने को परखने और सम्हालकर रखने की सामर्थ्य हो। संसार में बढ़ी हुई अधिकांश प्रचलित नास्तिकता का कारण धर्म-संस्करण का अभाव ही है।

२

कोई भी समाज वृद्ध या क्षीणवीर्य दो कारणों से होता है: (१) विलासिता, और (२) धार्मिक जड़ता।

समाज के विलासी होने पर चाहे जितनी साधन-सम्पत्ति भी उसके लिए पूरी नहीं होती, पुरुषार्थ अपने आप कम होता है, ऐसा होतो भी क्या और वैसा हो तो भी क्या और किसीमें कुछ नहीं ऐसी अकर्मण्यता और एक तरह की ऊँघने की-सी हालत उसकी हो जाती है। फिर नये-नये अनुभव लेने के बदले पुराने के प्रति कृत्रिम आदर और आग्रह बढ़ाकर उसे ढाल की तरह आगे किया जाता है।

दूसरी ओर मनुष्य में जब बौद्धिक जागृति मन्द हो जाती है,

प्रयोग करने के वजाय प्रामाण्य पर ही अधिक भार देने की वृत्ति बढ़ती है, तब समाज में एक प्रकार की धार्मिक जड़ता उत्पन्न होती है। यह धार्मिक जड़ता देखने में तो धर्माभिमान जैसी ही मालूम पड़ती है; परन्तु वस्तुतः वह एक प्रकार की नास्तिकता ही है। अभिमान और आग्रह के मूल में सच्चा आदर-भाव अथवा सच्ची श्रद्धा हो ही, ऐसा अनुभव से मालूम नहीं पड़ता।

आज हिन्दुस्तान में ग्रामीण-समाज की असाधारण दुर्दशा है। शहरों से विदेशी माल और ऐश आराम की चीज़ें तो गाँवों में पहुँचती हैं, लेकिन उद्योग-धन्धे नहीं पहुँचते। शहरी फ़ज़ूलख़र्ची, कुसंस्कार और दूसरे समाज-विघातक दुर्गण वहाँ तेज़ी के साथ फैलने लगे हैं। लेकिन शहरों में जो धार्मिक विचारों की जागृति, राजनैतिक प्रगति और समाज-सुधार थोड़े-बहुत अंशों में दिखाई पड़ते हैं उनका खमीर गाँवों में बहुत थोड़े परिमाण में पहुँचता है। जिस हिन्दू-धर्म और आर्य-तत्त्वज्ञान से हम आज जगत् को चका-चौंध कर देते हैं वह धर्म और तत्त्वज्ञान जिस रूप में आज के ग्राम-समाज में प्रचलित है उसे देखने पर 'नेदं यदि दमुपासते' ही कहना पड़ेगा। देशदेशान्तरों में हमारे जिस धर्म की तारीफ़ होती है और गाँवों में जिस धर्म का पालन होता है, वे धर्म एक नहीं रहे। गाँवों में अभी कलतक वास्तविक धर्मनिष्ठा, पवित्र आस्तिकता और उच्च चारित्र्य-सम्पत्ति थी; आज भी उसके अवशेष तो दिखाई पड़ते हैं, परन्तु अबुद्धि, जड़ता और नास्तिकता का ही साम्राज्य वहाँ सार्वत्रिक हो गया है। इस वजह से गाँवों के समाज में बुढ़ापा ज़्यादा दिखाई पड़ता है। गाँवों में अज्ञान है, अनारोग्य है और ग़रीबी है। इन तीनों को दूर न किया तो गाँवों का समाज अब

टिकनेवाला नहीं है। परन्तु ज्ञान, आरोग्य और उद्योग को लोगों पर वाहर से कितना लादा जा सकता है ? वाहर से लादने के उपाय की तो एक सीमा है। इस तारक-त्रिपुटी को तो लोगों को स्वेच्छापूर्वक ही स्वीकार करना चाहिए, और इसे स्वेच्छापूर्वक स्वीकार किया जाय उससे पहले समाज का बुढ़ापा मिटना चाहिए। समाज में उत्साह और उत्थान आना चाहिए। धर्म-संस्करण के वग़ैर ऐसा नहीं हो सकता। इसलिए दूसरी सव वातें करने से पहले गाँवों में धर्म-संस्करण का यथोचित प्रयत्न होना चाहिए।

गाँवों में जिस धर्म का पालन होता है उसमें भय, रिश्वत, दववाद और जन्तर-मन्तरवाला कर्मकाण्ड ही मुख्य होता है—फिर वह धर्म चाहे हिन्दुओं का हो या मुसलमानों का, अथवा ईसाइयों का ही क्यों न हो। गाँववालों को अपनी कमज़ोरी, अज्ञान, भोलेपन और अनाथ स्थिति का अनुभव ऐसा कडुवा होता है कि वे स्वाभाविक रूप में शक्ति-उपासक ही वनते हैं। फिर वे चाहे जैन हों या लिंगायत। इस अज्ञानमूलक शक्ति-पूजा से ही जादू-टोने और जन्तर-मन्तर पर आस्था जमती है। क्योंकि सामान्य जनता तो वलवान की आराधना अथवा ख़रीदी हुई चीज़ की रखवाली को ही धर्म समझती है, हालांकि वस्तुतः धर्म का यह अर्थ नहीं है। धर्म के द्वारा तो मांगल्य पर की अपनी श्रद्धा को वढ़ाना चाहिए, चारित्र्य की तेजस्विता को स्वाभाविक वनाना चाहिए, ऐहिक अनुभव में पग-पग पर जो विषाद प्राप्त होता है उसे दूर करने का दैवी आश्वासन प्राप्त करना चाहिए और जीवनान्तर्गत हरेक तत्त्व का नई दृष्टि से नया ही मूल्य लगाना चाहिए। धर्म के द्वारा तो हमें सफलता और निष्फलता के विचारों को ही वदलकर इस भौतिक जगत् में आध्यात्मिक स्वातंत्र्य प्राप्त करना चाहिए।

तात्त्विक विवेचन की दृष्टि से यह दृष्टिभेद बहुत अधूरा मालूम पड़ता है। परन्तु हृदय के साथ हृदय बात करे वहाँ उन्नत भूमिका का आमंत्रण आरपार पहुँच जाता है, और एकबार हृदय में परिवर्त्तन हुए बाद किसी भी उपाय से उसपर पानी नहीं फिर सकता। ऐसा हृदय का आमंत्रण देनेवाले व्यक्ति के हृदय में किसी के प्रति हीनता का भाव न होना चाहिए। उसकी तो यह अमर आस्था होनी चाहिए कि हमारा आमंत्रण अमोघ है। इसी प्रकार मनुष्य-मात्र के प्रति प्रेम और आस्था व आदर होना चाहिए।

[धर्मज्ञान देते या लेते हुए उसे ग्रहण करनेवाले के बारे में आज तक बेशुमार चर्चा हुई है। अब धर्मज्ञान देनेवाले के अधिकार की ऊहापोह करने के दिन आये हैं। जिनमें ऊपर बताई हुई आस्तिकता हो उन्हींको धर्मबोध और धर्म-संस्करण का काम अपने ऊपर लेना चाहिए।]

धर्मान्धता के रूप में गाँवों में आज नास्तिकता कितनी फैली हुई है, इसका पूरी तरह ख़याल आने पर मन को चोट ही पहुँचनी चाहिए—पहुँचती है।

प्रत्येक धर्म में काव्य ख़ूब भरा हुआ है। सच देखो तो धर्मज्ञान का वाहन दलील या युक्ति और तर्क नहीं बल्कि काव्य हैं। इसलिए काव्य-विहीन धर्म हो ही नहीं सकता। परन्तु जहाँ-जहाँ समाज में अज्ञान और जड़ता का साम्राज्य होता है वहाँ धार्मिक काव्य के शब्दार्थ को ही सच माना जाता है। और अपने अज्ञान के कारण न हों वहाँ भी गूढ़ता और जादू का आरोप किया जाता है। ऐसी वृत्ति से अधिक धर्मविघातक की कोई और वृत्ति होगी या नहीं, यह शंका-स्पद ही रहता है। इसके विरुद्ध धर्मान्धता से व्याकुल लोग ऐसे समय

धर्म में समाविष्ट काव्य को निकाल डालने का निरर्थक और निष्फल प्रयत्न करते हैं। वास्तविक उपाय तो यह है कि लोगों की बुद्धि तीव्र करके और उनमें रहनेवाली काव्य-रसिकता को समझकर काव्य को बढ़ाया जाय। लोगों की काव्य-शक्ति बढ़ने पर वे धर्म को आसानी के साथ समझ सकेंगे और मज़हबी वहमों को भी पहचान सकेंगे।

परन्तु यह सब साधने के लिए जानकार लोगों को गाँववालों के श्रमपूत और निसर्गमधुर दैनिक-जीवन में ओतप्रोत होना चाहिए। ख़ाली हितचिन्तना करने से काम नहीं चल सकता।

कोई भी समाज युग-कल्पना से पीछे रहकर नहीं चल सकता। आज का युग केवल मानव समानता का ही युग नहीं है। स्त्री-पुरुष की और जाति-जाति की समानता को तो आज मानना ही पड़ेगा। लेकिन सब धर्मों को भी समान दर्जा मिलना चाहिए। सब धर्मों के बारे में एकसा, अनादर, उनके प्रति एकसमान अनास्था, अथवा एकसमान अज्ञान को भी समानता का एक मार्ग समझा जाता है। लेकिन यह रास्ता घातक है। आज के युग में समाज में रहनेवाले हरेक मनुष्य को ख़ास-ख़ास धर्मों की सामान्य जानकारी होनी ही चाहिए। लेकिन ऐसी जानकारी प्राप्त करने और देने में तार्किक, चिकित्सक या केवल ऐतिहासिक दृष्टि से काम नहीं चल सकता। प्रेम, आदर और सहानुभूति के साथ जागृत जिज्ञासा-बुद्धि के साथ सब धर्मों का परिचय होना चाहिए। गाँव में धर्मज्ञान बहुत पिछड़ा हुआ होता है, दृष्टि संकुचित होती है, और जीवन का आशय बहुत उन्नत नहीं होता। ऐसे समय विशेष प्रेम से दुनिया के जुदे-जुदे धर्मों के सत्पुरुषों तथा चारित्रपरायण संघों द्वारा किये हुए प्रयत्नों की जानकारी करनी चाहिए। इसमें उद्देश्य धर्म-जागृति होना चाहिए केवल, बहुश्रुतता नहीं।

आज के समाज का एक महान् दोष वर्ग-विग्रह है। लोगों को ईर्ष्या, द्वेष, मत्सर करने के लिए कोई ध्यानमूर्त्ति चाहिए। स्त्रियाँ पुरुषों से लड़ें, जवान बूढ़ों से, ग़रीब श्रीमन्तों से, हिन्दू मुसलमानों से, गोरे लोग काले और पीले आदमियों से, इस तरह सब तरफ़ विग्रह का वातावरण है। कम अधिक लोगों को संगठित करके उनका नेतृत्व ग्रहण करने की शक्ति हो, तो उसके लिए सबको द्वेष-बुद्धि को केन्द्रित करके और उस द्वेष के अलम्बनार्थ उन्हें एक ध्यानमूर्त्ति देकर संशय का वातावरण खड़ा कर देना सहल उपाय है।

यह रोग धर्म में बड़ी तेज़ी से बैठ सकता है। आजकल इस दशा में ज़ोरदार प्रयत्न भी हो रहे हैं। इस सबका परिणाम परस्पर हत्या और अन्त में आत्महत्या ही होना है। हम जिस धर्म-संस्करण का विचार कर रहे हैं उसमें इस रोग से मुक्त रहने की पूरी-पूरी साव-धानी रखनी चाहिए।

दूषित तत्त्वों को निकालते हुए इतना ध्यान रखना चाहिए कि उनकी जगह अच्छे, सात्विक और हितकर तत्त्व रखे जांय। केवल शून्य अथवा पोलापन तो भयानक होता है।

व्यवहार कुशल लोग कहेंगे कि यह सब विवेचन है तो सुन्दर और उद्बोधक, परन्तु इसमें योजना जैसा कुछ नहीं दीखता।

राजसभा में क़ानून बनाते वक्त पहले उसके उद्देश का यथाविधि निरूपण किया जाता है, उसके बाद ही उसकी धारायें बनती हैं। लेकिन व्यवहार में क़ानून की धारायें हाथ में आते ही हेतु और उद्देश गौण बनकर अन्त में विस्मृत हो जाते हैं। समाज को ऐसी क़लमबन्द योजना की आदत पड़ गई है। परन्तु इससे जीवन यांत्रिक बनता है। भावना की जगह भला योजना से कैसे भरी जा सकती

है ? भावना का क्षेत्र तो शिक्षा से नवपल्लवित होता है, जबकि योजना अन्त में राज्यव्यवस्था का रूप धारण करती है। यहाँ बताया हुआ परिवर्त्तन ऐसा नहीं है। जिसके लिए किसी सत्ता के ज़ोर की ज़रूरत हो। वह तो शिक्षा द्वारा और प्रत्यक्ष उदाहरण से हृदय-परिवर्त्तन कराकर ही होनेवाला है। इसके लिए सार्वजनिक योजना बनाने से काम नहीं चलेगा। भावना मूल में शुद्ध होगी और सुरक्षित एवं जीवित रहेगी तो अपनी आवश्यकता के अनुसार अनेक योजनायें उत्पन्न करेगी और उन्हें बदलती रहेगी।

: २ :

मरणोत्तर जीवन की कल्पना

स्वर्ग-नरक के बारे में इतिहास-भूगोल और पुराणों में बहुत-कुछ पढ़ने को मिलता है। जिस प्रकार हिन्दुस्तान के उसपार तिब्बत है, दक्षिण में लंका है, सात समुद्र पार अँग्रेज़ों का श्वेतद्वीप है, उसी प्रकार बादलों के उसपार आकाश में स्वर्गभूमि मानों कोई देश होगा और वहाँ देवता रहते होंगे, ऐसा ख़याल होता है। पृथ्वी पर जो देश हैं वे उसकी पीठ पर पास-पास बसे हुए हैं। फ़र्क सिर्फ़ यही है कि स्वर्ग के इन्द्रलोक, चन्द्रलोक, गोलोक, विष्णुलोक वग़ैरा जहाज़ों की कैबिनों अथवा रेलवे के इण्टर क्लास के डब्बों की पटरियों या बम्बई की चालों की मंज़िलों की तरह ऊपर-नीचे होंगे।

नागलोक का हाल इससे ज़रा भिन्न और विचित्र है। पानी में ग़ोता लगाकर नागलोक में पहुँचा जा सकता है। यह किस तरह होता होगा, यह समझ में नहीं आता। और यह बात तो ठीक कि नरक

पृथ्वी के नीचे है, लेकिन वहाँ कैसे पहुँचा जाता होगा यह तो कल्पना में ही नहीं आता। पृथ्वी गोल है, यह निश्चय हो जाने के बाद हम यह कहने लगे हैं कि अमेरिका पाताल-भूमि है। तब फिर यमराष्ट्र की स्थापना कहाँ की जाय ?

ये सब लोक काल्पनिक हैं, यह सिद्ध करने के दिन अब नहीं रहे। क्योंकि समझदार लोगों के मनों से तो ये सब लोक कभी के उड़ गये हैं। लेकिन मरणोत्तर जीवन कैसा होगा, इसका खुलासा मन रोज़ माँगता है। सामान्य विलासी लोगों को इहलोक में जिन सुखोपभोगों की ज़रूरत होती है उन्हींकी संशोधित प्रावृत्ति ही हमारे पुराणों का स्वर्ग है, यह कहें तो कोई आपत्ति नहीं। मनुष्य की कल्पना भी बेचारी जाकर आखिर कहाँ तक पहुँच सकती थी ? जो देखा हो और जिनका अनुभव किया हो, उन्हीं वस्तुओं के भिन्न-भिन्न अवयव एकत्र करने से स्वर्गादिलोकों का ढाँचा तैयार होता है। पृथ्वी पर मनुष्य तरह-तरह के मधुर पेय—शरबत और आसव—पीता है; स्वर्ग में इन सबके प्रतिनिधि-स्वरूप माधुर्य की परिसीमा के समान अमृत की कल्पना की। पृथ्वी पर विलासीलोग सबके लिए भोग्य वारांगनाओं का सेवन करते हैं; स्वर्ग में उनकी जगह अप्सराओं की योजना हुई। पृथ्वी पर विषय-सेवन करनेवाले मनुष्यों को व्याधि, जरा और मरण भोगने पड़ते हैं। स्वर्ग काव्य-प्रदेश की तरह काल्पनिक होने के कारण वहाँ ये तीनों उपाधियाँ नहीं है, ऐसा स्वर्गविधाता काल्पनिकों ने तय किया। स्वर्ग में जैसे व्याधि नहीं ऐसे ही आधि अर्थात् मानसिक चिन्तायें भी नहीं हैं, ऐसी पौराणिक भूगोल-शास्त्रवेत्ता कहते हैं। लेकिन उनका इतिहास इससे उल्टे प्रमाण उपस्थित करता है। स्वर्ग का राजा इन्द्र भोगक्षीण नरेशों की

तरह हमेशा डर-डरकर जीता है। जहाँ किसीने तपस्या की नहीं कि उसका सिंहासन हिलने लगता है। कोई भक्त ज़ोरदार हुआ नहीं कि उसके आगे उसकी यह 'ऑफ़र' तैयार रहती है कि तू ही इन्द्र होजा, और रनवास से अपनी सुकुमार प्रहरियाँ भेजने के लिए भी वह तैयार ही रहता है। रोज़ के नये-नये दांव लगाकर उसे अपना स्थान सम्हालना पड़ता है। इससे भिन्न आधि भला और क्या होगी ?

और शेष देवता भी क्या कुछ निश्चिन्त रहते हैं ? वे अमृत पीते हैं और अप्सराओं का नाच देखते हैं। गाना-बजाना और सब इन्द्रियों को तृप्त रखना स्वर्ग में अखण्ड रूप से चलता है। लेकिन ऐसे वाहियातपन से बिगड़ जानेवाला मुँह फिर से ज़ायकेदार करने के लिए ही मानों वहाँ तीखे-तीखे सोंठ के लड्डू भी रखे गये हैं। देवताओं में सबका समान दर्ज़ा नहीं है। हरेक को अपने-अपने पुण्य के अनुसार ए०, बी० या सी० क्लास मिलती है और स्वर्ग नाम के होटल में जिसका जितना पुण्यांश जमा हो उसीके अनुसार उसे सुख भोगने को मिलता है। बैंक में जमापूँजी ख़त्म हुई नहीं कि स्वर्ग के मालिक प्राणी को नीचे धकेल ही देंगे। देवताओं के लिए दर्ज़ा ही बड़ी भारी चिन्ता की बात होती है। अपने से जिसका आसन नीचा हो उसकी तरफ़ तुच्छता से देखना, और ऊपरवालों की उपेक्षा करना, ऐसा मत्सर-पोषक व्यवस्था स्वर्ग में न होती तो स्वर्ग का अखण्ड सुखमय जीवन बिलकुल ही परेशानी का हो जाता !

राजदरबारी विलासों पर से मनुष्य को स्वर्ग की कल्पना सूझी, इसी तरह नरक की कल्पना सूझी कारावास की यातनाओं के अनुभव पर से। यहाँ भी कल्पना प्रत्यक्ष अनुभव से बहुत आगे न जा सकी। सताने या वैर निकालने के लिए जो-जो उपाय इस लोक में अहित-

यार किये जाते हैं उन्हींका नरक में थोड़े-बहुत सुधार के साथ आरोपण हुआ है। यहाँ के सुखोपभोग में जिस प्रकार रोग, जरा और मरण बाधक हैं, उसी प्रकार किसीको सताने की हविस में भी एक बाधा है। मारनेवाले मनुष्य को कब थकावट मालूम होगी और कब रहम आ जायगा, यह नहीं कहा जा सकता; एक तो यही बड़ी रुकावट है। लेकिन इस बारे में मन और शरीर सहते-सहते उसके आदी पड़ सकते हैं, किन्तु मौत-हानि और तिरस्कार के अतिरेक से जिन्हें सताने देना है वे बेसुध हो जायँ या मर भी जायँ तो उसका क्या इलाज? दोनों तरह यह हमारी पहुँच से बाहर की बात है; इसका कोई उपाय नहीं। लेकिन नरक में ऐसी कठिनाई नहीं है। वहाँ के यमदूत कामकाजी होने के कारण उन्हें थकावट, परेशानी या रहम की रुकावट ही नहीं पड़ सकती। और वहाँ की यातनायें चाहे जितनी भयंकर हों तो भी मनुष्य न तो बेसुध होकर पड़ जाता है और न ख़त्म ही हो जाता है।

स्वर्ग-नरक की लोकरूढ़ कल्पना साधारण मनुष्यों के अनुभवों पर से ही खड़ी की गई है, इतना समझ लेने के बाद उसका कोई मूल्य नहीं रहता। परन्तु मन की ऐसी प्रवृत्ति क़ायम रहती है कि मनुष्य-जीवन से ऊँचे दर्जे का कोई जीवन होना चाहिए, इसी प्रकार मनुष्य जीवन से हीन, अर्थशून्य और विशेष सन्तापदायक जीवन भी होगा ही।

इसलिए मरणोत्तर जीवन, पारलौकिक जीवन, स्वर्गलोक, मृत्यु आदि क्या हैं, यह अपने मन में एकबार सोचने की इच्छा मनुष्य जाति को बारम्बार होती है। एक देह छोड़ने के बाद तत्काल अथवा कालान्तर में, इसी पृथ्वी पर या अन्यत्र, मनुष्य-कोटि में या

अन्य कोटि में, मृत जीव नया देह धारण करता है और नये अनुभव प्राप्त करना शुरू करता है। इस सर्वसामान्य लोककल्पना के बारे में किसी भी प्रकार के विवाद में पड़े बग़ैर हम दूसरी ही तरह इस विषय का विचार करेंगे।

कोई भी आदमी जब अपने पूर्वजों का श्राद्ध करता है, तब वह किसका श्राद्ध होता है? किस चीज़ का श्राद्ध करता है? आत्मा का? नहीं। आत्मा तो सर्वव्यापी होने के कारण विभु है। वह न तो मृत्यु को प्राप्त होती है, न उसका स्थानान्तर या लोकान्तर ही होता है। इसलिए आत्मा के श्राद्ध का तो प्रश्न ही नहीं रहता। देह का करते हैं? नहीं, देह का भी नहीं। देह की तो राख या मिट्टी होजाती है। शायद देह इतर प्राणियों का आहार बनकर उनके साथ एक रूप भी होगया हो। मृत देह को खानेवाले कौवों, भेड़ियों या गृद्धों का हम श्राद्ध नहीं करते। यह भी सम्भव है कि देह में कीड़े पड़कर उन्हींका एक बड़ा देश बसा होगा; उनकी तृप्ति के लिए भी हम न तो पानी डालते हैं और न पिण्ड ही रखते हैं।

बाक़ी रहा मरनेवाले की वासनाओं का समुच्चय अथवा उनके पीछे बच रहनेवाले लोगों के मन में रहनेवाला उन सम्बंधी भावनाओं का समुच्चय। इन वासनात्मक और भावनात्मक देहों के द्वारा मनुष्य मृत्यु के बाद बाक़ी रहता है। इन दोनों में से किसी एक या दोनों ही देहों का श्राद्ध ज़रूर सम्भव है।

मृत्यु को प्राप्त पूर्वज महावीर, क्रूर, खाऊ या आलसी हो तो उसका वासना-समुच्चय या लिंगदेह शेर या भालू के शरीर में जन्म लेगा, ऐसी लोक-कल्पना है। अगर वह इकलख़ोरा होगा तो शेर की योनि पायगा, और समानशीलों का संघ बनाने की वृत्तिवाला होगा तो

उसके लिए भेड़ियों की योनि अधिक अनुकूल होगी। श्राद्ध कोई इस शेर या भालू का नहीं होता। नहीं तो यह हो सकता है कि उनके नाम पर खीर-पूरी खिलाने के लिए जिस वेदशास्त्रज्ञ ब्राह्मण को बुलावें, उसीको हमारे पूर्वज खीर-पूरी की जगह पसन्द कर बैठें। और इस प्रकार श्राद्ध में जो पशु-हत्या होती थी उसके बदले में ब्रह्महत्या हो जाय।

[मानव-पिता मनु भगवान ने कहा है कि 'मांस भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसं इहाद्म्यहम इति मांसस्य मांसत्वम्।' जिनका मांस मैं यहाँ खाता हूँ वे मुझे परलोक में खावेंगे, इसीलिए मांस को मांस कहते हैं। इस न्याय से श्राद्ध का विचार करें तो कहना चाहिए कि दुनिया में सब श्राद्ध ही जारी है।]

पूर्वजों में से चाहे जो अपने कर्म, वासना और संस्कार के अनुसार चाहे जिस योनि में गया हो और वहाँ अपनी पुरानी वासनाओं की तृप्ति करते हुए नई वासनाओं के बन्धन रचता हो, हमें उससे कोई सरोकार नहीं। हमारे पूर्वजों का तो देह छोड़कर चले जाने पर भी इस लोक में से सम्पूर्ण नाश नहीं होता। उनके किये हुए अच्छे-बुरे कर्म, उनके द्वारा प्रेरित अच्छी-बुरी भावनायें, और मानव-स्वभाव के विकास में की हुई उनकी वृद्धियाँ ये सब इस लोक में मौजूद रहते हैं।

जिसके साथ जिनका सम्बन्ध था उन नाते-रिश्तेदार और शत्रु-मित्र आदि की स्मृति एवं भावना में वह मनुष्य पहले की तरह ही ज़िन्दा रहता है, यही नहीं बल्कि दिनोंदिन उसके अवशेष रहते हुए स्मृतिगत जीवन में फेरबदल भी होते रहते हैं। मरणोपरान्त उसका निवास एक ही देह में न रहकर स्मृति-रूप में, कार्य-रूप में

अथवा प्रेरणा-रूप में वह जितने समाज में व्याप्त हो उतने समस्त समाज में उसका निवास होता है, और उस जीवन को मद्देनज़र रखकर ही उसका श्राद्ध हो सकता है। शिवाजी महाराज जैसे पुण्य-श्लोक राजा ने या तो मोक्ष पाई होगी या इस अथवा अन्य किसी देश में राष्ट्रपुरुष का जन्म लिया होगा। उसकी इस नई यात्रा—कैरियर—का हम श्राद्ध नहीं करते। लेकिन आज हमारे हृदय में शिवाजी महाराज बसे हुए हैं और बड़े होते जा रहे हैं, उनकी उम्र में वृद्धि होती जाती है, उसीका हम श्राद्ध करते हैं। श्राद्ध मरे हुओं का नहीं, उन्हींका हो सकता है जो देह-त्याग किये बाद समाज में जीवित रहते हैं, प्रवृत्ति करते हैं, विकास पाते हैं और पुरुषार्थ करते हैं। यह मरणोत्तर सामाजिक जीवन ही सच्चा पारलौकिक जीवन है। शास्त्रकारों ने जीवन के छः लक्षण बताये हैं : अस्ति, जायते, वर्धते, अपक्षीयते, परिणमते, म्रियते—वे सब इस जीवन पर भी लागू होते हैं। इसलिए यह जीवन काल्पनिक नहीं, वास्तविक, व्यापक, दीर्घजीवी और परिणाम-कारक है। यही पारलौकिक जीवन है। यह जीवन सुन्दर, उन्नति-कारक, शुभकर होगा, तो वह प्राणी का स्वर्ग है। यह जीवन अगर समाज का अधःपतन करनेवाला होगा, आर्यत्व का ध्वंस करनेवाला होगा, तो वही नरक है। इस तरह विचार करने पर हरेक प्राणी का स्वर्ग-नरक उसकी मृत्यु के बाद ही शुरू होता है। लेकिन वह प्राणी तो इसी लोक में ओतप्रोत रहेगा।

मुसलमान लोग ऐसा मानते हैं कि मरने के बाद मनुष्य बर्ज़क नाम के एक स्थान में रहकर क़यामत की—आख़िरी इंसाफ़ के दिन की—प्रतीक्षा करता है। जबतक सब प्राणी मरकर यहां का सारा नाटक समाप्त न होजाय तबतक आख़िरी फ़ैसले के लिए न सब प्राणी

हाज़िर रह सकते हैं और न हिसाब की वही ही बन्द हो सकती है। हिसाब पूरा हो, सब लोग नाटक के अन्त में जैसे नट इकट्ठे होते हैं उस तरह एकत्र हों, सारा भेद खुल जाय, तभी सबके सामने फ़ैसला दिया जा सकता है। फ़ैसले के अन्त में जिनको स्वर्ग (बहिश्त) मिले वे स्थायी स्वर्ग में मौज करेंगे और जिन्हें नरक (जहन्नुम या दोज़ख़) मिलेगा वे अखण्ड वेदना में तड़पते रहेंगे। जबतक यह निर्णय न हो तबतक मरे हुए सब लोगों को बर्ज़क के वेटिंग रूम (मुसाफ़िर-ख़ाना) मे प्रतीक्षा करते हुए बैठे रहना पड़ेगा। बर्ज़क कर्मभूमि न होने पर भी वहाँ मनुष्य की स्थिति में फेरबदल तो होता ही रहता है। क्योंकि उसके पाप-पुण्य का हिसाब बैंक की अमानत अथवा व्यापार में लगाई हुई पूँजी की तरह बढ़ता रहता है।

मैंने अगर अपनी ज़िन्दगी में एकाध कुआँ बनवाया होगा, तो ज्यों-ज्यों लोग उस कुएँ का उपयोग करते जायँगे त्यों-त्यों मेरे नाम पर बर्ज़क में पुण्य (सवाब) बढ़ता जायगा। मैंने अगर किसी तरह का कोई नया सत्कार्य किया होगा और लोग उसका अनुकरण करने लगे होंगे, तो सत्कृत्य के नवीन क्षेत्र की शोध करनेवाले के रूप में मेरा अनुकरण करनेवाले के पुण्य में से कुछ अंश (रॉयल्टी) मुझे बर्ज़क में मिलता रहेगा। एबल और केन इन दो भाइयों के झगड़े के फल-स्वरूप मनुष्य-जाति में पहली हत्या हुई थी, जिससे अब मनुष्यों में कोई भी हत्या करे तो उसके पाप का थोड़ा-बहुत अंश हत्या का रास्ता जारी करनेवाले बन्धुघाती केन के नाम ज़रूर जमा होता है। परलोक में पेटेण्ट एक्ट तो है नहीं, मगर न्याय का बहीखाता बराबर जाग्रत रहता है।

ऊपर बताई हुई बर्ज़क की कल्पना और हमारी पारलौकिक जीवन की कल्पना, ये दोनों क़रीब-क़रीब एक-सी ही हैं।

जिसे हम कीर्ति कहते हैं, वह दरअसल इस पारलौकिक जीवन का प्रतिबिम्ब है। पारलौकिक सुदीर्घ जीवन का परिमाण निकालने पर जन्म-मरण के खूँटों के बीच का सुख-दुःखात्मक जीवन बहुत थोड़ा या कम कहा जायगा। लेकिन पुरुषार्थ की दृष्टि से देखें तो यह जीवन बड़े महत्त्व का है। क्योंकि यही कर्मभूमि है। भोग की दृष्टि से देखें तो यह देहगत जीवन अत्यन्त अल्प और तुच्छ है। इसीलिए जो अपने नफ़े-नुक़सान का हिसाब कर सकता है उसे ऐहिक सुखों पर बहुत ध्यान न रखते हुए पारलौकिक यशःशरीर और उसमें मिलनेवाले कीर्ति-रूपी सुखोपभोग की तथा लोगों की मार्फ़त अखण्ड रूप से मिलती रहनेवाली कृतज्ञता की ही ज़्यादा फ़िक्र रखनी चाहिए। इस लोक में हम सत्कर्म करेंगे, लोगों को सत्प्रेरणा देंगे और पीछे रहनेवालों का सब ओर से विस्तार करेंगे, तो मरणोपरान्त यह सब बढ़ता रहेगा और हमारा मरणोत्तर जीवन परिपुष्ट और लोकोन्नति-कारक होगा।

प्राकृत लोगों को इस जीवन का ख़याल नहीं होता, इसीलिए उन्हें स्वर्ग-नरक के काल्पनिक इतिहास और भूगोल का प्रलोभन दिया जाता है—अथवा, प्रलोभन कहने के बजाय, यह कहें तो भी काम चल सकता है कि वस्तुस्थिति का ही एक बालग्राह्य चित्र उन्हें बतलाया जाता है।

मरणोत्तर जीवन यानी सांपराय के बारे में नोट

१. मनुष्य मृत्यु के बाद भी अपने विचार, अपनी भावना, अपने संकल्पों और अपने किये हुए पुरुषार्थ के कारण समाज में जीवित रहता है। मरने के बाद का यह जीवन मरने से पहले के

जितना ही महत्वपूर्ण होता है। यह परिपुष्ट भी होता है और क्षीण भी होता है। यह जीवन समाजोन्नति-कारक हो, तो वही मनुष्य का स्वर्ग है; और वह समाज को नीचे गिरानेवाला हो, तो वही नरक है। पंचमहाभूतात्मक देह की बनिस्वत समाज-रूपी देह में रहकर मनुष्य अतिदीर्घ जीवन प्राप्त कर सकता है, और जीवन की सफलता का अधिकारी होता है। इस मरणोत्तर जीवन का व्यक्ति-रूपी शीशे में, अहंकार-रूपी काच में, जो प्रतिबिम्ब पड़ता है वही कीर्ति और वही यश है।

२. मरणोत्तर समाज-रूपी जीवन का ख़याल मनुष्य को नहीं होता। इसीलिए कीर्ति, यश, पुण्य, स्वर्ग-नरक इत्यादि कल्पनाओं की सृष्टि करके इन्हें मनुष्य के सामने रक्खा गया है। नहीं तो पर-लोक पृथ्वी के वाहर है, ऐसी कोई वात नहीं है। परलोक का तो मतलव है मरणोत्तर स्थिति। इसीको उपनिषद में सांपराय नाम दिया गया है। वालवुद्धि मूर्खों को इस सांपराय की पहचान नहीं होती। इसलिए मूर्ख लोग यह समझते हैं कि देह, उसके सुख-दुःख, उन सुख-दुःखों के साधनभूत होनेवाला मालमता (वस्तु मात्र), उन सुख-दुःखों का भोक्ता अहंकार (अस्मिता) और देह क़ायम रहे उतने समय में पाया हुआ आयुष्य वस इतने में ही अपना सारा जीवन पर्याप्त होता है। ये सव वातें मिलकर जो व्यक्तित्व वनता है वह हमारे प्राण का अल्पांश मात्र है। सच पूछो तो काल, देश (व्याप्ति) और आधार का विचार करने पर हमारा जीवन अत्यन्त विशाल है। यह वात जिसकी समझ में आगई वह निश्चय ही निष्पाप और अमर होगा।

३. ऐसा मनुष्य अगर यह कहे कि 'मेरी मृत्यु मर गई और मैं

अमर हूँ' तो उसका अर्थ समझने में कोई मुश्किल नहीं है। जीवन की दृष्टि से शारीरिक मरण तुच्छ पदार्थ है, इतना तो सहज ही समझ लेना चाहिए।

: ३ :

अवतारवाद

अवतारवाद हिन्दू-धर्म की एक विशेषता है। वेद का कथन है कि मनुष्य मूल में ईश्वर है। व्यक्ति के हृदय में ईश्वरी तत्त्व का निवास है, यह बात थोड़ी-बहुत भिन्नता के साथ सभी धर्मों ने कही है। जिनमें देवताओं का समूह बहुत बड़ा है ऐसे रोमन, ग्रीक अथवा पौराणिक धर्मों में और जगदेकमल्ल होकर रहनेवाले मत्सरी ईश्वर पर ही निष्ठा रखनेवाले यहूदी, ईसाई और मुसलमान धर्म तक में देवी-देवताओं का स्वभाव लगभग मनुष्यों जैसा ही है। धर्म-कथाओं में यद्यपि यह कहा हुआ है कि ईश्वर ने मनुष्य का निर्माण किया, मगर विकासवादी कहते आये हैं कि खुद ईश्वर ही मनुष्य की कृति है। इन सब मतों के साथ अवतारवाद का मेल सम्भव मालूम पड़ता है। लेकिन अवतारवाद वस्तुतः विलक्षण और अद्भुत असर पैदा करनेवाला विचार है। यह वाद ऐसा है कि जितना हृदय को आश्वासन देता है उतना ही तर्कबुद्धि को भी सन्तुष्ट करता है। इसका यथार्थ स्वरूप समझ लेना चाहिए। अवतारवाद को किसी हद तक समझकर मुसलमान और ईसाई लोग भी अब कहने लगे हैं कि 'अवतार यानी पैग़म्बर का जन्म' इस अर्थ में अवतार हमें मान्य है। क़ुरान में स्पष्ट कहा है कि 'ऐसी एक भी भूमि या पीढ़ी नहीं जिसमें ईश्वर ने पैग़म्बर न दिया हो।' पैग़म्बरों की परम्परा सृष्टि के समान ही

अखण्ड रूप से जारी है। यहूदी और ईसाई लोग भी पैग़म्बरों की परम्परा को मानते हैं। इसलिए अब अगर हम अवतारवाद की मीमांसा उसकी मूल कल्पना तथा भिन्न-भिन्न धर्मों की भिन्न-भिन्न मान्यताओं के स्वरूप के आधार पर करें, तो ख़ाली हिन्दू-धर्म को ही नहीं बल्कि सभी धर्मों को वह कल्पना मान्य होगी और भविष्य में मनुष्य-जाति को जो सर्वसामान्य विश्व-धर्म का तत्त्वकुटुम्ब बनना है उसमें अवतारवाद को प्रमुख स्थान मिले बिना नहीं रह सकता। केवल लाभ या प्रतिष्ठा का विचार करके अवतारवाद को सुन्दर रूप में उपस्थित करना हमारा उद्देश्य नहीं है। हम तो यहाँ सिर्फ़ यही व्यक्त करना चाहते हैं कि अवतार-मीमांसा आज कितनी महत्त्वपूर्ण और संस्कृति-पोषक है।

बौद्ध परिभाषा के अनुसार, कोई प्राणी अन्तर्मुख होकर अपनी परिस्थिति के बारे में असन्तुष्ट होता है और अपने सब दोष दूर करके सर्वशुभगुणों का आत्यन्तिक विकास करने का संकल्प करता है तो उसे बोधिसत्त्व कहते हैं। ऐसा बोधिसत्त्व एक-एक सद्-गुण की पारमिता यानी सर्वोच्च कोटि प्राप्त करता हुआ हरेक जन्म में ऊँचा उठता जाता है और अन्त में बुद्ध हो जाता है। जब उसे अपना उद्धार करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है तब उसे 'पच्चेक (प्रत्येक) बुद्ध' यानी अपना उद्धार करने में समर्थ बुद्ध कहते हैं। वही जब जगत् का उद्धार करने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है, तब गौतम बुद्ध की तरह 'तथागत' बन जाता है।

प्रत्येक व्यक्ति के लिए यही स्वाभाविक उन्नति-क्रम है। गीता में जिसे 'अनेकजन्मसंसिद्ध' कहा है उसीको 'नर करनी करे तो नारायण होजाय' इस लोकोक्ति में 'नारायण' कहा गया है।

हमारा उद्धार करनेवाला हममें से ही उदय होता है, हम जो साधना न कर सके वह उसने की है, हममें से ही एक होने पर भी परात्पर (श्रेष्ठातिश्रेष्ठ) के अंश-रूप वह हुआ है, यह प्रत्यक्ष देख-कर भी यह सब स्वीकार करने में मनुष्य आनाकानी करता है। क्योंकि इसमें एक यह कठिनाई तो है ही कि हमारे जैसा ही हमारी बराबरी का कोई भी मनुष्य हमसे आगे बढ़ गया है यह स्वीकार करने में उससे अपनी हीनता स्वीकार करनी पड़ती है, लेकिन इसके साथ ही एक और तात्त्विक कठिनाई भी है जिसका विचार करना चाहिए।

प्रत्येक आत्मा शुद्ध, बुद्ध, नित्य, मुक्त और सर्वसमर्थ होने पर भी वह अपना मूलपद कैसे खो बैठा, यह शङ्का सहज ही पैदा होती है। शुद्ध अशुद्ध किसलिए हो ? मुक्त बन्धन में क्यों बँधे ? जो नित्य है वह अनित्य क्यों हो ? और जो सर्वसमर्थ है वह अपने-को अधःपतन से क्यों न बचा सका ? ये सब प्रश्न स्वाभाविक हैं। तर्क कहता है कि आत्मा का अधःपतन होता ही नहीं; यह सब भ्रम है। तो फिर यह भ्रम पैदा कहाँसे हुआ ? परस्परविरोधी तत्त्व स्वतन्त्र रूप से सच्चे प्रतीत हों तब तर्कबुद्धि चक्कर में पड़ जाती है और उसे यह मानना ही पड़ता है कि इस विषय की उपपत्ति मेरे पास नहीं है। तर्क के पराभव को मंजूर करनेवाले इस जवाब को ही माया कहा गया है। माया कोई वाद या सिद्धान्त नहीं प्रत्युत् वस्तु-स्थिति का स्वीकार है।

सर्वोच्च स्थिति पर होने पर भी जो अपनी जगह को क़ायम नहीं रख सकता, वह अशुद्ध, अनित्य, अज्ञानी और बुद्ध हुए बाद फिर से ऊँचा उठने की शक्ति कहाँसे लायगा ? जिससे जो था वही

यम न रक्खा जा सका वह खोये हुए को फिर से खुद ही किस
ह प्राप्त करेगा ? इसलिए जो समर्थ है उसीको कृपावान होकर, नीचे
र के, हमारा हाथ पकड़कर हमें ऊपर उठाना चाहिए। यह खुद
र चढ़ने का काम नहीं, वल्कि समर्थ के लिए ऊपर उठाने का
म है। सर्वसमर्थ परमात्मा करुण बुद्धि से कृपालु होकर हमारे
द्वार के लिए नीचे उतरता है। उसके सहारे से ही हम पतित हुए
ग पुनीत हो सकते हैं। जिस-जिस विभूति में तारक-शक्ति दिखाई
उस-उसमें प्रभु अवतरित है, यह मानना ही तर्कयुक्त है। यह
वतार अल्पांश में हो या पूर्णांश में, अमुक काल तक का हो या
वनावधि हो, परन्तु उसकी यह विशेषता है कि तारक-तत्त्व बाहर
आकर मनुष्य में अवतरित होता है। जगदुद्धार की इस कल्पना
ो ही अवतारवाद कहते हैं।

कुम्हार का चाक एक बार घूमने लगा तो फिर घूमता ही रहता
। उसकी गति स्वयंभू नहीं है। चाक का सामर्थ्य तो बस इतना
ी है कि जो गति उसे दी जाय उसे बहुत समय तक क़ायम रक्खे
पने स्वभाव के अनुसार चाक, चाहे अति अल्प प्रमाण में ही क्यों
हो, क्षण-क्षण में रुकने का प्रयत्न करता है। अतः उसकी गति
ारी रखने के लिए कुम्हार को हाथ में लकड़ी लेकर बार-बार
से प्रेरणा देनी पड़ती है। कुम्हार की यह मार बार-बार बाहर
लगते रहने पर ही चाक घूमता रहता है। यही हाल उस समाज
ा है जो स्वभाव से ही जड़ है। अवतारी पुरुषों के प्रताप की
रम्परा ईश्वर-कृपा से जारी है। प्रेरणा का भत्ता जारी है, इसीसे
ंस्कृति-रूपी अग्नि प्रज्वलित बनी हुई है।

यह प्रेरणा बाहर से मिलती है या अन्तःस्फूर्त्त है, मानवी है या

अतिमानवी है, इसकी चर्चा की यहाँ कोई ज़रूरत नहीं। अवतार-वाद का कहना है कि प्रेरणा निश्चितरूप से बाह्य है, अतिमानवी है। मनुष्य इस प्रेरणा को ग्रहण कर सकता है, धारण कर सकता है, यही उसका बड़प्पन या उसकी विशेषता है। इसके विरुद्ध पक्ष का कहना है कि गर्मी खूब बढ़ती है तब झाल पैदा होकर प्रकाश का रूप धारण करती है, यह हम हमेशा देखते हैं। प्रकाश उष्णता में से ही प्रकट होता है। उष्णता और प्रकाश के स्वरूप भिन्न होने पर भी तत्त्वतः उष्णता का उत्कट रूप ही प्रकाश है, इस बारे में कोई शंका नहीं करता। गर्मी को खूब बढ़ी हुई देख यह समझकर प्रकाश चाहे जहाँ से आकर उसमें नहीं बैठ जाता कि अब उसके अवतार का उपयुक्त आधार तैयार होगया है। वह तो अन्दर से ही प्रदीप्त होता है। इसी प्रकार मानव-जाति का तारणहार मनुष्यों में से ही उत्पन्न होता है और मनुष्य-स्वभाव का ही वह बनता है।

इस चर्चा को थोड़ा आगे बढ़ायें तो यह मालूम पड़ेगा कि दोनों पक्षों में मतभेद नहीं, सिर्फ़ शब्द-भेद है। गाँधीजी कहते हैं कि "जो पुरुष अपने युग में सर्वश्रेष्ठ धर्मवान होता है उसे भविष्यकाल के लोग अवतार की तरह पूजने लगते हैं। जिसमें धर्म-जागृति अपने युग में सबसे अधिक है वह विशेष अवतार है।" अवतार की कल्पना को इस तरह दुहरा रूप देकर गांधीजी ने ऊपर का विवाद ही मिटा दिया है। हरेक पीढ़ी में, हरेक काल में, समाज को सावधान करने-वाले कोई-न-कोई पुरुष होते ही हैं। उनकी विभूति असाधारण मालूम पड़ने पर उनके पीछे के लोग उन्हें अवतार कहने लगते हैं। और उनकी दी हुई प्रेरणायें ईश्वरी प्रेरणायें हैं, ऐसा मानकर श्रद्धा और आदर के साथ उन्हें स्वीकार करते हैं।

कुरान में भी स्पष्ट कहा है कि अल्ला (ईश्वर) ने हरेक युग को एक-एक पैग़म्बर दिया है। बिना पैग़म्बर कोई भूमि नहीं है, पैग़म्बर बग़ैर कोई समाज नहीं है, और पैगम्बर बग़ैर कोई युग नहीं है। इसका मतलब यही है कि हरेक काल में हरेक जगह कोई-न-कोई तारक पुरुष होगा ही। ज़रूरत सिर्फ़ इस बात की है कि समाज में उसको पहचानने की शक्ति हो।

यहाँ हमें शास्त्रों के प्रमाण पर भी थोड़ा विचार कर लेना चाहिए। उद्धारक विभूतियों की प्रेरणा को एक बार श्रद्धा और आदर से स्वीकार कर लेने के बाद उनके वचनों का संग्रह होना बिलकुल स्वाभाविक है। इस तरह प्रेरणा शब्द में बंधकर ग्रन्थ का रूप धारण करती है, और सन्त-वचन ही शास्त्र है यह मूल सिद्धान्त विकृत होकर शास्त्रीय प्रमाण को किताबी प्रमाण का रूप प्राप्त हो जाता है। धर्म का तत्त्व गूढ़ है और प्रसंगानुसार उसका विनियोग बदलता रहता है। जीवित परिस्थिति का निरीक्षण करके धर्मज्ञ पुरुष एक समय जो निर्णय करते हैं वही काल और परिस्थिति के बदल जाने पर लागू नहीं होता। शंकराचार्य ने भी कहा है कि 'यस्मिन् देशे काले निमित्ते च यो धर्मोऽनुष्ठीयते स एव देशकाल निमित्तान्तरेषु अधर्मो भवति' (शांकर शरीरभाष्य ३, १, २५)। ऐसी परिस्थिति में व्याकरणशास्त्र, मीमांसाशास्त्र और तर्कशास्त्र के ज़ोर पर प्राचीन वस्तुओं का अर्थ करने में और मृतप्राय ग्रन्थों पर समाज का जीवन-क्रम एवं उसका भाग्य लटकता रखने में अत्याचार और आत्मद्रोह है। 'शिष्टाः प्रमाणम्' यही सच्चा रास्ता है। शिष्ट यानी जिनकी बुद्धि और हृदय शुद्ध है, जो समाज-हित को पहचानते हैं और जिनका हृदय समाज-हित की तरफ़ ही जाता है, वे पवित्र

व्यक्ति। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह आदि व्रत जिनके लिए स्वाभाविक हो गये हैं, ऐसे विरले व्यक्तियों को ही शिष्ट कह सकते हैं। वे जो रास्ता निश्चित करें वही शास्त्र है। भर्तृहरि तो इससे भी आगे जाकर कहते हैं कि सत्पुरुष सहज रूप में जो कुछ कहें वह भी शास्त्र ही है।

परिचरितव्याः सन्तः यद्यपि कथयन्ति ते न उपदेशम्।
यास्तेषां स्वैरकथाः ता एव भवन्ति शास्त्राणि ॥

प्राचीन शास्त्रीय वचनों का अर्थ भी ऐसे शिष्ट व्यक्तियों को ही करना चाहिए। जीवनतत्त्वज्ञान केवल पण्डितों के पंजे में कभी न पड़ना चाहिए।

भूमि का भार दूर करने के लिए हरेक युग में अवतार होते हैं, ऐसा हमारे पूर्वजों ने कहा हुआ है। इन वचनों का शब्दार्थमात्र लेने से बहुत-से लोगों का ऐसा ख़याल होगया है कि जिस तरह नाव में बैठनेवालों का बोझ बढ़ने पर नाव उस बोझ को सहने में असमर्थ होकर डूब जाती है, उसी प्रकार लोकसंख्या बढ़ने से पृथ्वी को अपनी पीठ का भार असह्य होजाता है। लेकिन सच पूछो तो पृथ्वी पर और पृथ्वी में जो जड़ द्रव्य है उसमें कोई बढ़ती-घटती होती ही नहीं है।

राई-जैसे दाने से बड़-जैसा बड़ा दरख़्त ज़मीन पर उगता है, परन्तु उस दरख़्त का इतना बड़ा बोझ हवा, पानी और मिट्टी से ही पैदा होता है। अतः दरख़्त बढ़ने पर ज़मीन का बोझ किस तरह बढ़े? घोड़े पर बैठे-बैठे सवार अपनी थैली में से रोटी खा जाय तो उससे थैली का बोझ तो ज़रूर हलका हो और सवार के पेट का बोझ बढ़े, लेकिन उससे घोड़े का क्या? घोड़े पर तो उतना ही बोझ रहा।

यही पृथ्वी का भी हाल है। पृथ्वी का जो भार बढ़ता है वह भौतिक नहीं प्रत्युत् नैतिक है। उसका निवारण करना अवतार का काम है। जब समाज में अनाचार बढ़ता है, स्वार्थ, विद्रोह, कलह और नास्तिकता फैलती है, तब पृथ्वी को उनका भार असह्य होजाता है। और फिर पृथ्वी दीन होकर अपने विधाता पालनकर्त्ता के पास ग़रीब गाय बनकर जाती है। सर्वान्तर्यामी परमात्मा दयालु होकर धर्मपरायण व्यक्तियों के लिए आहार देता है। अँगीठी को हिलाकर और फूँकनी से फूँक मारकर जिस तरह हम उसमें की अग्नि को प्रज्वलित करते हैं उसी प्रकार समाज को हिलाकर, धर्म की फूँक मारकर, धर्म का संस्करण करके, अवतारी पुरुष सज्जनता की, मनुष्य-प्रेम की और दैवी सम्पत्ति की स्थापना करता है। समाज के समझदार आदमी उस धर्म-प्रेरणा को पहचानकर आस्तिकता से उसे स्वीकार करते हैं।

अवतार का उद्देश्य धर्म-संस्थापना है। धर्म-संस्थापना का मतलब कोई मत या कोई पंथ चलाना नहीं बल्कि लोगों में सत्य, प्रेम, दया, वासना-संयम, सर्वभूतहितेरतत्त्व आदि शुभमंगल तत्त्वों पर के विश्वास को जीवित करना है। जिसमें सबका कल्याण हो वह धर्म है। सर्वप्रजाओं को सार्वत्रिक और सनातन धारण करने-वाला धर्म है। यह धर्म विश्वव्यापी, सनातन और इसीसे नित्य-नूतन होता है। सजीव, हलचलवाले, चैतन्ययुक्त शरीर पर मोहित होकर चित्रकार उसका चित्र बनाता है, और मूर्तिकार उसकी मूर्ति बनाता है। जिसने जीवित शरीर को देखा है, जिसने उसके साथ सत्संग किया है, उसे चित्र या मूर्त्ति को देखकर भी मूल चैतन्य का स्मरण होता है और उसमें से चैतन्यमयी प्रेरणा मिलती है। परन्तु जिनका

अनुभव और कल्पना चित्र या मूर्त्ति के बाहर जाते ही नहीं उन्हें वह बन्धन-रूप होता है। चैतन्य की भूख भला मूर्त्ति से किस तरह मिटे? जीवित मूर्त्ति उद्धार करती है; निष्प्राण मूर्त्ति गले में पत्थर बनकर डुबा देती है।

अवतारी पुरुषों के नाम पर जो धर्म चलते हैं वे सचमुच उनके नहीं हैं। प्रेम का सन्देश दूसरे स्थान को भेजने के लिए प्रेमपत्र भेजना पड़ता है। प्रेमपत्र ले जानेवाला सन्देशवाहक कोई प्रेमी नहीं होता। पत्र के क़ागज़, स्याही, स्याही के रंग, अक्षर के मरोड़, शब्द, भाषा, भाषा के अलंकार इनमें से कोई भी प्रेम नहीं है। प्रेम तो अमूर्त्त है। परन्तु इन सब साधनों के बग़ैर उसको वहन कैसे किया जाय? प्रेम को समझनेवाला इन सब साधनों का उपयोग करते हुए भी इनपर निर्भर नहीं रहता। साधनों से प्रेम भिन्न है, यह जानकर वह साधनों को ही सब कुछ मानकर नहीं बैठ रहता। इसी न्याय से समाज में रूढ़ बने हुए विचारों, रिवाजों और सिद्धान्तों का आधार लेकर धर्म-संस्थापक उन्हींमें अपना सन्देश डालकर लोगों के आगे रखते हैं। पुराने में से जितने के लिए यह विश्वास हो-गया कि वह ख़राब और फेंक देने लायक़ है उतनेका ही वे विरोध करते हैं। जितना निभा लेने लायक़ लगे उतनेको निभा लेने की उनकी वृत्ति होती है। वे जो नये साधन, नये रिवाज या नई संस्थायें उत्पन्न करते हैं, और जिनके बारे में वे अत्यन्त आदर और आग्रह रखते हैं, उन वस्तुओं का भी उनके सन्देश की वाहक होने से ही महत्त्व है। परन्तु अविद्या से जकड़ी हुई मनुष्य-जाति ने तत्त्व के साथ गाँठ बाँधना छोड़कर तत्त्ववाहक या तत्त्व-संग्राहक बाह्य साधनों को ही महत्त्व दिया है और उसके लिए अनेक युद्ध किये हैं।

साधन-भेद के कारण ऐसे युद्ध होते देखकर कितने ही केवल तत्त्व को बौद्धिक दृष्टि से ग्रहण करके ही सन्तोष करते हैं। साधनों के बारे में उनका विश्वास न होने के कारण, साधन-मात्र की वे उपेक्षा करते हैं। इस बात को वे भूल जाते हैं कि केवल तत्त्व-ज्ञान के लिए धर्म नहीं है, वह तो जीवन-परिवर्त्तन के लिए, आत्मशुद्धि के लिए, आत्मसाक्षात्कार के लिए है। सामान्य जन-समुदाय देवता को छोड़कर मन्दिर या मस्जिद की ही उपासना करता है; जबकि कितने ही उत्साही पर अज्ञान शरारती मन्दिरों को तोड़कर देवताओं को बचाने में लगते हैं। परन्तु असली ज़रूरत तो यह है कि मनुष्य मन्दिर को मन्दिर और ईश्वर को ईश्वर की तरह पहचानें। ऐसा होने पर वे साधन के बारे में साध्य के जितना ही आग्रह रखने पर भी साधन-पूजक न बन जायँगे। हरेक पैग़म्बर जो-कुछ दे जाता है उसका शुद्ध रूप में सेवन हो, इसके लिए उसकी विरासत का क्षण-क्षण में संस्करण होना चाहिए। क्योंकि जिसका नित्य-संस्करण होता है उसका नाश नहीं करना पड़ता। नित्य-संस्करण ही जीवन का साधन अथवा व्याकरण है।

पैग़म्बर मुहम्मद से पहले अरबस्तान में बाबा अब्राहम का धर्म प्रचलित था। उस धर्म में तरह-तरह के दोष पैदा होगये। उनमें से जो दोष मुहम्मद साहब को असह्य लगे, उन्हींका उन्होंने कमर कसकर विरोध किया। परन्तु मक्का की यात्रा, काबा के चुम्बन, वहाँ के स्नान, एकवस्त्री स्नान आदि विधियों में कोई दोष न देख इन्हें उन्होंने जारी रहने दिया। बकर-ईद का बलिदान भी मुहम्मद साहब ने ख़ुद जारी नहीं किया। परन्तु उसके मूल में शिबिश्रियाल अथवा रुक्मांगद के जैसी अलौकिक ईश्वरनिष्ठा देखकर ही उन्होंने इसको

रहने दिया। मांसाहारी लोगों के लिए वकर-ईद का वलिदान सहज ही शोचनीय है, परन्तु इसी वकर-ईद की कुरवानी हिन्दुस्तान में महाकलह की जड़ होगई है। तटस्थरूप में इस्लाम का अभ्यास करने पर मालूम हुआ है कि वकर-ईद की कुरवानी इस्लाम का मुख्य अंग नहीं है। इस्लाम का मतलव तो है ईश्वर के वारे में अनन्य निष्ठा। इस्लाम का असली आग्रह ईश्वर की अद्वैतता के वारे में है। अनात्मा को आत्मा मानना, अनीश्वर को ईश्वर मानना, इसकी इस्लाम को वड़ी चिढ़ है। हरेक धर्मनिष्ठ साधक और भक्त को भी इससे नफ़रत होती है। जो विलासनिष्ठ है, धनलोलुप है, जानमाल-परस्त है, कितावपरस्त है, वह सच्चा भक्त नहीं है—सच्चा मुसलमान नहीं है। कितने ही मुसलमान दूसरों का अनुकरण करके ताज़िये निकालते हैं और मस्जिद-परस्ती का दोप करते हैं, यह वात अलग है। परन्तु सच्चे इस्लाम का मतलव तो ईश्वरनिष्ठा, ग़रीवों पर रहम, ईश्वर-प्रार्थना और धर्म-सेवा है। और यही वात हरेक धर्म के वारे में कही जा सकती है।

: ४ :

वर्ण-व्यवस्था

वर्ण-व्यवस्था गुणकर्मविभागशः है। इन दोनों में गुण अधिकांश में आनुवंशिक होने से, और कर्म अथवा उपजीविका के उद्योगी धन्धे में भी कुल-परम्परा का महत्व अधिक होने के कारण, वर्ण-व्यवस्था मनुष्य के जन्मानुसार निश्चित करने में अशास्त्रीयता या अन्याय जैसी कोई वात नहीं है। According to birth या

according to worth ऐसा काल्पनिक विरोध खड़ा करके चातुर्वर्ण्य का विरोध करने में कोई सार नहीं है। गुण-कर्म-विभाग बहुत-कुछ जन्मानुसार ही होने के कारण, चातुर्वर्ण्य ईश्वरकृत (मयासृष्टं) माना गया है। परन्तु चातुर्वर्ण्य के आधारभूत तत्त्व गुण और कर्म हैं, इसमें सन्देह नहीं। गीता में जहाँ ब्राह्मणों के कर्म गिनाये गये हैं वहाँ वे गुण ही हैं। क्षात्र-कर्म के बारे में भी यही कहा जा सकता है। वैश्य-शूद्रों के बारे में जो स्वाभाविक कर्म कहे गये हैं वे कर्म ही हैं।

ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों वर्ण प्रत्यक्ष रूप में समाज-सेवा-परायण होने के कारण, उनकी आजीविका समाज चलाता है। वैश्य और शूद्र को केवल आजीविका के लिए विशिष्ट कर्म करने पड़ते हैं। इसी कारण ऊपर बतलाया हुआ भेद किया होगा। मनुस्मृति ने केवल ब्राह्मणों के लिए छः कर्म गिनाकर उनमें से तीन (अध्यापन, याजन और प्रतिग्रह) आजीविका के लिए और तीन (यजन, दान और अध्ययन) धर्म यानी समाज-सेवा के लिए करने को कहा है। इनमें से अध्यापन से आजीविका मिलती हो तो भी उसका प्रधान उद्देश्य समाज-सेवा ही है। आजीविका के लिए अध्यापन करनेवाला 'उपाध्याय' ब्राह्मणवर्ग में भी बहुत प्रतिष्ठा नहीं पाता।

किसी भी धन्धेवाला आदमी वर्ण के अनुसार भिन्न वृत्ति से रह सकता है। दरज़ी की बड़ी दूकान में रोज़मर्रा की मजूरी लेकर सीने, बटन टाँकने आदि के काम करनेवाला दरज़ी शूद्र दरज़ी है। सिलाई की बड़ी दूकान चलानेवाले दरज़ी को वैश्य दरज़ी कह सकते हैं। नगर के सब दरज़ियों का संगठन करके, अवसर प्राप्त होने पर समाज अथवा सरकार के विरुद्ध हड़ताल कराके

दरज़ी जाति के अधिकारों की रक्षा करनेवाले को क्षत्रिय दरज़ी कहना चाहिए। और दरज़ी की शिक्षा के वर्ग खोलकर, मानसिक चोरी किये वग़ैर, इस कला का ज्ञान सिखानेवाला ब्राह्मण दरज़ी कहा जा सकता है। ('यतिधर्म संग्रह में दस तरह के ब्राह्मणों का वर्णन अत्रि-स्मृति से उद्धृत किया गया है, वह इस सम्बन्ध में ज़रूर देखने लायक़ है। उसमें क्षत्रिय ब्राह्मण, वैश्य ब्राह्मण, म्लेच्छ ब्राह्मण आदि वर्ग करके उनके लक्षण बतलाये गये हैं। जाति और वर्ग इन दो तत्त्वों के मिश्रण से इस तरह का वर्गीकरण उत्पन्न होता है।)

यहाँतक हमने 'गुणशः' पद के बारे में विचार किया है। परन्तु समाज में प्रचलित सारे इष्ट धन्धे वंश-परम्परा से चलाकर समाज-द्रोही प्रतिस्पर्धा बन्द करने के लिए ख़ासतौर पर वर्ण-व्यवस्था की रचना हुई है।

समाज-सेवा के परोपकारी हेतु से ऐसे कोई भी काम हर किसी को करने चाहिएँ जो अपनेको साध्य मालूम पड़ें। क्योंकि ऐसा करने में धन्धे की प्रतिस्पर्धा नहीं है। आजीविका का धन्धा करो तो वह वंश-परम्परा से चला आनेवाला अथवा उस जैसा ही कोई हो, यह वर्ण-व्यवस्था का आग्रह ज़रूर है। इसलिए समाज की दृष्टि से सब वर्ण समान माने गये हैं। हरेक धर्म अपने-अपने स्थान पर श्रेष्ठ है, इस कल्याणकारक सिद्धान्त को स्वीकार न करें तो प्रतिस्पर्धा में रुकावट नहीं पड़ सकेगी और जगत् में द्रोह, विग्रह और असूया बन्द नहीं होंगे। वंश-परम्परा के संस्कार की वजह से स्वकर्म और स्वधर्म के अनुशीलन में असाधारण कौशल्य की प्राप्ति होती है। सामाजिक रूप में विचार करने पर यह बहुत बड़ा लाभ है। वकील का बेटा जन्म से ही वकील होता है। बड़े होने पर पुराने

मवक्किल भी उसे स्थायीरूप से मिल जाते हैं। इस तरह वकील-मवक्किल में घरोपे का सम्बन्ध दृढ़ होता है। आर्य समाजशास्त्र का यह नियम होने के कारण कि कोई भी धन्धा पैसे कमाने के लिए न किया जाय, और निष्पक्ष एवं निस्पृह समाज-सेवक ऋषियों का यह निश्चय होने के कारण कि हरेक धन्धा 'सर्वभूत हितेरतः' होना चाहिए, भिन्न-भिन्न धन्धों के बीच ईर्ष्या होने की कोई वजह नहीं रहती।

अपवाद-रूप किसी व्यक्ति को अपनी वंश-परम्परागत धन्धा पसन्द न होकर दूसरा ही कोई धन्धा अनुकूल हो सकता है; परन्तु ऐसे अपवाद पर से समाज-व्यवस्था को व्यवस्था-शून्य या तंत्र-शून्य करना बुद्धिहीनता का लक्षण है। उपजीविका की व्यवस्था केवल समाज-हित की ही दृष्टि से रखने से व्यक्ति का विकास कुण्ठित होता है, ऐसा मानने की कोई वजह नहीं है। करघे के ऊपर कपड़ा बुन-कर पेट भरनेवाले कबीर का और तम्बू तैयार करके अपना व अपने शिष्यों का पेट भरनेवाले सन्त पाल का विकास किस ओर से कुण्ठित हुआ था?

स्त्रियाँ विशेषतः बाल-पालन में लग जाती हैं, इसलिए उन्हें आजीविका के लिए स्वतन्त्र धन्धा करने की ज़रूरत नहीं रहनी चाहिए। वे पति के धन्धे में थोड़ी-बहुत मदद करें, यही काफ़ी है। वस्तुस्थिति ऐसी होने के कारण गोत्र के अनुसार वर्ण के बारे में भी निश्चय हो सकता है, कि पति का जो वर्ण हो वही पत्नी का वर्ण है। जहाँ रहन-सहन और विचार-सरणि परस्परानुकूल हो और अन्य किसी कारण से सम्बन्ध दूषित न होता हो वहाँ वर्णान्तर विवाह होने में भी कोई समाज-द्रोह या धर्म-हानि नहीं है।

ऐसे वर्णान्तर विवाह किये ही जायें, ऐसा आग्रह रखने से भी वे वहुत नहीं होंगे। और समाज-हितैषी लोग अगर उचित अपवादों का विरोध न कर ऐसे सम्बन्धों को अपना आशीर्वाद ही दें तो सामाजिक वातावरण नीरोग एवं चैतन्य रहेगा।

धर्म के अध्ययन और आचरण एवं कालानुरूप संस्करण को प्रधानता देकर समाज के संस्कार, ज्ञान, कौशल्य और पराक्रम को बढ़ाने के लिए जो लोग समाज-सेवा को ग्रहण करें वही ब्राह्मण हैं।

धर्मशास्त्र का (जिसमें समाजशास्त्र पूरी तौर पर आ जाता है) सम्पूर्ण अध्ययन करके, समाज के समस्त व्यवहार के लिए आवश्यक जानकारी प्राप्त करके, समाज के सब वर्गों और घटकों के रक्षण-पालन की ज़िम्मेदारी निष्पक्षता और जागरूकता के साथ निबाहनेवाला क्षत्रिय है।

समाज के नित्य-वर्द्धमान भिन्न-भिन्न अंगों के लिए आवश्यक वस्तुयें तैयार करके लोगों में वेचने अथवा समाज के लिए उपयोगी अनेक प्रकार का ज्ञान एवं कौशल्य प्राप्त कर उसका मुआवज़ा लेकर उसे समाज को देनेवाले वे लोग वैश्य हैं जो वस्तुयें एवं कौशल्य प्राप्त करने, वेचने तथा अपने जीवन में धर्म यानी समाज-हित का उल्लंघन नहीं करते।

परिचर्या यानी शारीरिक सेवा करनी या लेनी समाज-हित की दृष्टि से बहुत हितकारक नहीं है। जो काम हरेक को ख़ुद ही करने चाहिएँ उन्हें दूसरों से कराने में दोनों ओर के व्यक्तियों का और समाज का अहित ही होता है। परिचर्या करने और करानेवाले दोनों परस्पर आश्रित ही हुए। वृद्ध, रोगी, दुर्बल अथवा मूर्ख और बालक ही स्वभावतः परिचर्या के अधिकारी हैं। ऐसों की परिचर्या

तो कुटुम्बियों को ही अपना आद्य-धर्म समझ समय निकालकर करनी चाहिए। परिचर्या आजीविका का धन्धा बने, यह इष्ट नहीं है। समाज जब हीन होता है, तब समाजसेवा के परोपकारी क्षेत्र में धन्धेदार लोग घुस जाते हैं और सेवा के काम धन्धे के साधन बन जाते हैं।

समाज-हित की दृष्टि से परिचर्या भयावह है, यह विचार प्राचीन आर्यों में जितना चाहिए उतना जाग्रत नहीं था। प्राचीनकाल के आर्यों जैसे ग्रीक यवन लोग तो यही मानते थे कि 'परिचारक गुलाम समाज के स्वाभाविक अङ्ग हैं।' परिचर्या-दोष के कारण आर्य संस्कृति और ग्रीक संस्कृति दोनों बहुत नीचे गिर गई हैं, यह हम आज स्पष्ट देख सकते हैं। अतः गुलाम, शूद्र और अंत्यज वगैरा वर्णों का हमें नये सिरे से विचार करना चाहिए।

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीनों वर्ण संस्कार-प्रधान हैं। जिनमें इन संस्कारों को ग्रहण करने की योग्यता ही नहीं है, अथवा जिनमें संस्कार डालने में समाज निष्फल रहे, उन लोगों के लिए परिचर्या ही आजीवका का साधन बन जाती है। परिचर्या करनेवाले को एक ही गुण बढ़ाने की ज़रूरत है—नम्रता, सन्तोष, यानी असूया का अभाव।

एक ओर परिचर्या का क्षेत्र ही संकुचित करते जाना और दूसरी ओर शिक्षणशास्त्र में नये-नये प्रयोग करके संस्कार डालने की निष्फलता के क्षेत्र को समाप्तप्राय कर देना समाज के उत्कर्ष का लक्षण है। ऐसा करते हुए शूद्र वर्ण ही नामशेष होजाना चाहिए। जिस समाज में शूद्र-वर्ग बहुत अधिक है वह समाज अपने गले में बड़ा पत्थर बांधकर तैरने का मिथ्या प्रयत्न करता है, ऐसा कहना चाहिए। ऐसा समाज पराधीन ही होगा।

शिक्षण और स्वावलम्बन के विकास से शूद्रवर्ण का स्थान दूर करके बाक़ी के तीन वर्णों का विचार करना चाहिए। आलस्य और विलास ये दो दोष कम हों तो लोभ और मत्सर भी कम होंगे। सन्तोष और पराक्रम ये दोनों अगर पूरी तरह बढ़ें तो न कोई किसीको लूटे, न कोई किसीके साथ अन्याय करे। ऐसी परिस्थिति में प्रजा में ही जीवन व्यतीत करनेवाले क्षत्रियों की संख्या अपनेआप कम होगी। जिस तरह हम यह नहीं चाहते कि समाज में रोग बढ़ें और डाक्टरों की रोज़ी बढ़े, इसी प्रकार लूटमार, अन्याय, ज़ोर-ज़बरदस्ती बढ़ती रहे और पड़ोस के खूँख़ार राष्ट्रों से प्रजा की रक्षा करने का अवसर क्षत्रियों को मिले, उनकी प्रतिष्ठा और समृद्धि बढ़े, यह इच्छा भी अनुचित ही मानी जायगी। हाँ, यह ज़रूर है कि जिस प्रकार हमारी इच्छा तो यह होती है कि आग बुझाने के दमकल, दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता और बीमारों की दवा-दारू के दवाख़ानों की ज़रूरत ही न पड़े तो ठीक है, फिर भी सावधानी से उनकी तैयारी रखनी ही पड़ती है, उसी प्रकार रक्षणपरायण, कमर कसके लड़नेवाले, जीवन की परवा न करनेवाले, पक्षपातरहित एवं व्यसन-विमुक्त क्षत्रियों का वर्ण भी रखना चाहिए। मगर ऐसी तैयारी रखने पर भी यह इच्छा तो रखनी ही चाहिए कि समाज में आदर्श मनुष्यता फैले और क्षत्रियवर्ण की ज़रूरत ही न रहे।

मनुष्य जबतक जन्म से ही शिक्षा-सम्पन्न और संस्कार-सम्पन्न न हो तबतक ज्ञानदान करनेवाला वर्ग अवश्य रहेगा। पर इस वर्ग के हाथ में सत्ता और उसके साधन नहीं रहने चाहिएँ। सत्य और सेवा, स्वावलम्बन और ग़रीबी में वे सन्तोष-समाधान से जीते रहें, ऐसी व्यवस्था हो तो इस वर्ग के बढ़ने का कोई दुःख या भय नहीं। परन्तु

इस वर्ग की संख्या हमेशा परिमित ही रहेगी। ब्राह्मणों का आदर्श कठोर होने के कारण वंश-परम्परा से पाये हुये संस्कार की मदद से ही उसका पालन सहज हो सकता है। तो भी अपने उज्ज्वल जीवन-क्रम से चाहे जिस वर्ग के आदमी के लिए सेवा-कार्य करना शक्य है और होना चाहिए। ऐसा मनुष्य निरहंकारी ही होगा। और सर्व वर्ण समान हैं ऐसी सामाजिक बुद्धि दृढ़ होने पर वह ब्राह्मण वर्ण में जन्मा हुआ न हो तो अपने को ब्राह्मण कहलाने का आग्रह ही नहीं रखेगा। इसके विपरीत यह भी उतना ही सच है कि समाज भी उसका जीवन-क्रम देखकर उसे ब्राह्मण कहे बिना न रहेगा। ऐसे लोगों के वंशज ब्राह्मणकुलों में मिल जायें, यह बिलकुल स्वाभाविक है।

रहा एक वैश्य वर्ण। वेद में विट् अथवा विश् का अर्थ 'वैश्य' भी होता है और समान रूप में 'मनुष्य' भी होता है, यह ठीक ही है। क्योंकि विराट् मनुष्य-समाज चाहे जब वैश्य ही होगा। इस वैश्य-समाज में सब तरह के धन्धेवाले आजाते हैं। पुस्तकें लिखकर पेट भरनेवाले, क्लर्की करके राज्य चलानेवाले, तनख्वाह लेकर सरकारी न्यायाधीश का काम करनेवाले और चमड़े की कमाई करके उसके जूते बनानेवाले किसान, भरवाड़, साली, बुनकर और बनजारे जैसे सब लोग वैश्य ही हैं। एक वैश्य वर्ण में असंख्य जातियों की जमातों का समावेश होता है। इन सब जमातों में परस्पर विवाह हों ही, ऐसा कुछ नहीं है। परन्तु वर्ण-व्यवस्था के अनुसार प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए। इस तरह विवाह-व्यवस्था का निबन्धन स्वाभाविक होने से समाज विशेष सुसंगठित और बलवान होगा और स्त्रियों की स्थिति में तो बहुत सुधार होगा ही।

जाति-धर्म और कुल-धर्म

कुल और जाति ये दो संस्थायें प्रकृतिगत होने के कारण स्वयंभू, स्वयंप्रेरित और सनातन यानी शाश्वत हैं। दोनों में रक्त-सम्बन्ध भी आजाता है। जिनका रक्त एक है, वह एक कुल; और जिनका रक्त (विवाह-सम्बन्ध से) एक होसकता है, वह एक जाति। (जन्मना जातिः।)

कामविकार की प्रेरणा, अपत्यैषणा, अपत्यवात्सल्य इन दोनों संस्थाओं के मूल में है। समूह बनाकर रहना और समूह-शक्ति के ज़ोर पर जीना, बढ़ना एवं विजय प्राप्त करना (निसर्ग पर अथवा ग़ैरों पर विजय पाना), ये वृत्तियाँ भी इन संस्थाओं के मूल में ज़रूर हैं। यही वजह है कि इनका कोई उपाय करने की बहुत कोशिश नहीं करनी पड़ती। ये सब वृत्तियाँ प्राणीसहज (Biological) हैं। ये वृत्तियाँ अन्धी, ज़ोरदार और स्वाभाविक हैं। ये सब जीवन की पोषक हैं, लेकिन जीवन की सफलता का इन्हें ख़याल नहीं है। जीवन की सफलता का ख़याल जब शुरू होता है तभी जीवन-संसृति में संस्कृति (Culture) उत्पन्न होती है। इस संस्कृति के परिपोषणार्थ ही आश्रम-व्यवस्था की तरह वर्ण-व्यवस्था का निर्माण हुआ है। वर्ण और जाति एक नहीं हैं। जाति वर्ण का छोटा रूप हो सो भी बात नहीं है। ये दोनों संस्थायें परस्पर सम्मिश्रित हों तो भी तत्त्वतः और स्वरूप में परस्पर भिन्न हैं। कुछ अंश तक तो परस्पर विरोध भी है। जातिसंकर और वर्णसंकर भी एक नहीं हैं। वर्ण तो संस्कृति-प्रधान हैं।

वंश-परम्परा के संस्कार, कौटुम्बिक जीवन के संस्कार, कुल-धर्म और जाति-धर्म में उत्पन्न विरद-रूपी संस्कृति के तत्त्व, इन सब-का विचार करें तो वर्ण-व्यवस्था में भी जाति का तत्त्व पैदा होता है। इसमें बुराई भी नहीं है। लेकिन खाली जाति-तत्त्व को प्रधानता मिलना इष्ट नहीं है। ऊपर बताये हुए कारणों से और जातितत्त्वों के संस्कार-परम्परा एवं विकास के पोषक हो सकने के कारण जाति और वर्ण को एक प्रवाह में डालना सम्भव और शास्त्र-शुद्ध है। लेकिन इस बारे में सख़्त नियम बनाने से मूल उद्देश्य मारा जाता है।

संकरता नरक का कारण है, ऐसा सिद्धान्त निरापद अथवा त्रिकालाबाधित नहीं है। (व्यभिचार, लोकनिन्दित सम्बन्ध और शिष्टों द्वारा नापसन्द किये हुए सम्बन्ध) ये तो निरपवाद नरक-गामी हैं ही। जिनका धार्मिक आदर्श परस्पर भिन्न है, जिनकी संस्कृति की भूमिका ही जुदी है, अथवा जिनकी रहन-सहन और विचार-सरणी में आकाश-पाताल का अन्तर है, ऐसों के विवाह जीवन-शास्त्र और संस्कृति की दृष्टि से शुभ परिणाम वाले नहीं होते; और, इन विवाहों में अपत्यद्रोह होता है। इन दो कारणों से उन्हें अनिष्ट मानना चाहिए।)

समान भूमिका वाले भिन्न-भिन्न समाजों में कोई-कोई वक्त ऐसा आता है जब मिश्र विवाहों को उत्तेजन देना पड़ता है; और कोई वक्त ऐसा होता है जब मिश्रण से दूर रहकर अलहदगी बनाये रखना ही इष्ट मालूम पड़ता है। जब दो समाज समकक्ष और तुल्यबल होते हैं, और दोनों को मिलाकर नवीन पुरुषार्थ करना होता है या नवीन संस्कृति पैदा करनी होती है, तब समान-आदर्श, समान-विचार-सरणी और समान-पुरुषार्थ देखकर सम्मिश्रण को उत्तेजन देना ही

ठीक है। इसके विरुद्ध जब परस्पर परिचय नहीं होता और ऐसा भय मालूम पड़े कि एक पक्ष दूसरे को खा जायगा, तब तेजोवधकारी मिश्रण से दूर रहना ही इष्ट है। ऐसे समय अलहदगी अथवा पृथकता को महत्व देना चाहिए। नेपोलियन का यह सैनिक वाक्य यहाँ जुदे अर्थ में लागू होता है : We unite to strike and separate to live।

दुनिया की लग्न-संस्था के इतिहास की छानबीन करने पर सभी तरह के समाजों में अगर कोई महत्त्व का विचार-साम्य मालूम पड़ता हो, तो वह यह है कि सगे बाप-बेटी या माँ-बेटे अथवा बहन-भाई का विवाह-सम्बन्ध निरतिशय निंद्य माना गया है। प्राचीन काल में ईरान में, उत्तर हिन्दुस्तान में तथा अन्यत्र बहन-भाई का विवाह होता तो था; परन्तु सभी जगह ऐसे विवाह जल्दी ही त्याज्य माने जाने लगे और मनुष्य-हृदय में ऐसे विवाहों के लिए गहरी घृणा पैठ गई।

इसके बाद कम-बढ़ रूप में सब जगह यह विचार फैला कि सगे-सम्बन्धियों में विवाह करना भी हानिकर और निंद्य है। यह अभिप्राय मूल में सब जगह होनेवाले अलिखित परन्तु ज़बरदस्त और कड़वे अनुभवों पर से बना होगा। क्योंकि नज़दीकी सम्बन्धों में वैवाहिक प्रेम पैदा नहीं होसकता और विकृत मानस यानी बिगड़े हुए दिमाग़ के कारण हो भी तो क़ायम नहीं रह सकता। उन्माद हो तो वह क्षणिक ही प्रतीत हुआ है। यह तो हुई मानसिक दृष्टि की बात।

वैद्यक दृष्टि से—ज़्यादा नज़दीक के विवाह से उत्पन्न होनेवाली सन्तति अन्त में निःसत्व, नामर्द, असंयमी, कुष्ठरोगी और मन्दबुद्धि होती मालूम पड़ी है, और आगे चलकर सन्तान-वृद्धि भी क्षीण होती है ऐसा अनुभव हुआ है।

संस्कार-दृष्टि से—भिन्न कुलों के संस्कार का इष्ट संयोग जो अपत्यों को मिलना चाहिए, वह नहीं मिलता। इससे कूपमण्डूक-वृत्ति अथवा बन्द तालाब में रुके हुए पानी की-सी स्थिति इन कुटुम्बों की होजाती है।

आरोग्य दृष्टि से—विभिन्न कुटुम्बों के विवाह से उत्पन्न हुई सन्तति आनुवंशिक रोगों से टक्कर लेने में जितनी समर्थ होती है उतनी एक कुटुम्ब के विवाहवाली नहीं होती।

सामाजिक दृष्टि से—एक कुटुम्ब अन्दर-ही-अन्दर विवाह करने लगे तो समाज विस्तृत नहीं होगा। समाज का मतलब तो है परस्परावलम्बन। यह परावलम्बन उचित मर्यादा में जितना व्यापक और विविध हो उतना ही समाज बलवान होगा। 'स्वात्मनि एव समाप्त-व्याप्ति' ऐसे एक कुटुम्बी समाज की स्थिति समाजशास्त्र के लिए असह्य होनी चाहिए।

शास्त्रधर्म से बाहर के, पिछड़े हुए अथवा जंगली माने जानेवाले लोग भी नज़दीकी सम्बन्धों के विवाहों को निषिद्ध मानते हैं। एक ही गाँव के लड़के-लड़की भाई-बहन जैसे माने जाने चाहिएँ, ऐसा बहुत-सी जगह माना जाता है। सामाजिक व्यवहार बिना डर के और निश्चिन्तता के साथ चले, इसके लिए भी नज़दीकी विवाह निषिद्ध माने जाने चाहिएँ। जहाँ दिन-रात खुला व्यवहार आवश्यक हो वहाँ गड़बड़ होने लगे और उसीको विवाह मान लेना पड़े तो सामाजिक व्यवहार संकुचित और शंका से घिरा हुआ रहेगा। एक गुरु की देखरेख में संस्कार पानेवाले युवक-युवतियों में भाई-बहन का सगापन समझना चाहिए, यह नियम भी इसी दृष्टि से इष्ट है।

एक गोत्र में अन्दर-ही-अन्दर विवाह न होने चाहिएँ। सपिण्ड,

सगोत्र और सप्रवर का विचार किये बग़ैर विवाह न करने की धार्मिक मर्यादा यहाँतक वर्णित धार्मिक मीमांसा से ही पैदा हुई है।

धर्म की इस दृष्टि और मर्यादा को अब कुछ बढ़ाने का अवसर प्राप्त हुआ है। जातिबहुल हिन्दू-समाज में उपजातियों का खूब ज़ोर जमा है। हज़ार-हज़ार कुटुम्बों की ही छोटी-छोटी जातियाँ बन जायँ, यह सर्वथा अनिष्ट है। लेकिन आज तो सौ-सवासौ कुटुम्बों की जातियाँ भी दिखलाई पड़ती हैं। यह स्थिति अत्यन्त शोचनीय है। जिस प्रकार खेत के पानी को बह जाने से बचाने के लिए छोटी-छोटी क्यारियाँ बनाई जाती हैं, उसी प्रकार ग़रीबों की बेटियाँ श्रीमन्तों के घरों में ही न पहुँच जायँ इसके लिए छोटी-छोटी उपजातियाँ नई-नई पैदा करने की यहाँ प्रवृत्ति है। साथ ही इसलिए भी छोटी-छोटी जातियाँ बनाने की प्रवृत्ति मालूम पड़ती है कि जिससे बड़े-बड़े जाति भोजों का ख़र्च न हो। ऊपर की हुई विवाह-मीमांसा में नज़दीकी रिश्तों के विवाह-सम्बन्धों के जो दोष बतलाये गये हैं वे सब इन उपजातियों, वर्गों और समूहों के विवाहों में दिखलाई पड़ने लगे हैं। इसलिए धर्म की दृष्टि, समाजशास्त्र के अनुभव और भावी प्रजा के कल्याण इन सबका विचार करके अब ऐसा सख़्त नियम बनाना चाहिए कि अपनी उपजाति में विवाह करना भी एक कुटुम्ब अथवा एक गोत्र में विवाह करने के समान, सगे भाई-बहन के विवाह की तरह ही, निन्दनीय हो।

आजकल जो समाज-सुधार सुझाये जाते हैं उनसे यह सुधार भिन्न है। दूसरे सुधार धर्म-मर्यादा शिथिल करने के उद्देश्य से सुझाये जाते होंगे। लेकिन यह सुधार धर्म-दृष्टि विशेष जागृत करने की दृष्टि से सुझाया गया है।

कोई यह पूछ सकता है, कि क्या आप जाति-भेद तोड़ना चाहते हैं? जाति-भेद नष्ट करना इष्ट है या नहीं, यह बात एक ओर रखकर इसका यह जवाब दिया जा सकता है कि सगोत्रों के बाहर विवाह करने के आग्रही नियम से अगर गोत्र नहीं टूट जाते, विभिन्न कुटुम्बों के विवाहों से अगर कुटुम्ब नहीं टूट जाते, तो उपजातियों के बाहर ही विवाह करने चाहिएँ ऐसा नियम बनाने से उपजातियाँ कैसे टूट जायँगी? और अगर उपजातियाँ टूट भी जायँगी तो उससे जातियों का क्या बिगड़ेगा? वर्ण-व्यवस्था को तो किसी तरह कोई डर नहीं है। संगठनप्रिय ज़माने को तो ऐसे सुधारों का विरोध नहीं ही करनी चाहिए।

यहाँ हमने जो सुधार सुझाये हैं तथा उनके मूल में जो विचार-सरणी निहित है वे समाज-हित के लिए अत्यन्त महत्व के हैं। अतः उनपर गम्भीर विचार करना चाहिए।

: ६ :

जाति-जाति का सम्बन्ध

लेओत्सी जैसे अँग्रेज़ी नामोच्चार से पहचाना जानेवाला एक चीनी तत्त्ववेत्ता और धर्मज्ञ मध्यचीन में होगया है। कहते हैं कि वह लोगों में सन्तोष अथवा तृप्ति को ही बड़ा गुण मानता था। व्यर्थ की जिज्ञासा एक बड़ी बीमारी ही है, ऐसा वह मानता था। गाँवों के बारे में उसका आदर्श यह था कि 'गाँववालों को अपना गाँव छोड़कर कहीं न जाना चाहिए। आसपास के गाँवों के किनारे भौंकनेवाले कुत्तों की आवाज़ अपने गाँव में भले ही सुनाई पड़े, लेकिन वह गाँव कहाँ

है यह देखने के लिए भी किसीको अपना गाँव नहीं छोड़ना चाहिए।' कोलम्बस से पहले यूरोप और अमेरिका को एक-दूसरे के बारे में जितना ज्ञान था उससे अधिक एक-दूसरे की जानकारी इतने पासवाले गाँवों को न हो यह सम्भव है या नहीं इसका विचार छोड़कर हमें हिन्दुस्तान को स्थिति की जाँच करनी चाहिए। हिन्दुस्तान के गाँव जिज्ञासा के लिए बहुत मशहूर नहीं हैं। दूसरे प्रान्तों में क्या होता है, इसकी खबर उन्हें शायद ही होती है। दूसरे धर्मों के तत्व क्या हैं, आदर्श क्या है, इसकी स्पष्ट जानकारी किसीको नहीं होती। प्रवाह में पड़ी हुई लकड़ी की तरह समाज का क्रम चुपचाप चलता रहता है। सामाजिक परिस्थिति में होनेवाले परिवर्तनों की ज़िम्मेदारी चाहे जिसकी हो, गाँववालों की तो बिलकुल नहीं है। 'ईश्वर रक्खेगा वैसे रहेंगे' इस जड़तत्त्व का वेदान्त बड़ी अच्छी तरह लोगों के गले उतर गया है। किसीको भी पूछो, यही जवाब मिलेगा—'अहं करोमीति वृथाभिमानः'।

हिन्दुस्तान के सामाजिक जीवन में फेरबदल न होता हो सो बात नहीं है, लेकिन वह फेरबदल परवश और जड़तत्त्व में होनेवाला फेरबदल है। पानी अग्नि से गरम होता है और पवन से ठण्डा पड़ता है; लेकिन इस फेरबदल में उसका अपना आग्रह नहीं होता। पानी कभी गुस्से से लाल नहीं हुआ, या वह कभी गुस्से को विवेकपूर्वक पी जाकर ठण्डा नहीं पड़ा। अपने ही पुरुषार्थ से इरादा करके फेरबदल करना और पहले से सोची हुई दिशा में प्रयाण करना चैतन्य का गुण है। वेदान्त ने कहा है कि मुक्त पुरुष को 'जड़वल्लोक आचरेत्'। पर हमने मुक्त होने के पहले ही इस बोध को स्वीकार कर लिया और वत् प्रत्यय को बिलकुल भूल गये।

हिन्दुस्तान की—यानी हिन्दुस्तान के गाँवों की—जाति-उप-जातियों का प्रश्न ऐसी ही जड़ता का एक सवाल है। और उस सवाल का निराकरण सारी जनता को करना है। जनता के ज्ञानमय, चैतन्यमय और यौवनमय होते ही अपने-आप इसका निराकरण हो जायगा। जनता रूढ़ि से चिपटी रहती है। इसमें समाज की स्थिरता है, सन्तोष है, समाधान है। अमुक व्यक्ति अमुक रीति से ही व्यवहार करेगा या नहीं, इसका भरोसा रहता है। रूढ़ि के ऐसे कितने ही गुण हैं। क्योंकि वे सभी जड़ के गुण हैं। पुल के पत्थर अपनी जगह पर ही रहते हैं, पक्षियों की तरह उड़कर चरने को नहीं निकल जाते, इसीलिए पुल का भरोसा करके हम उसके ऊपर से गाड़ी को हाँक ले जाते हैं। गाड़ी से दबकर पुल टेढ़ा नहीं होजाता, यह भी कोई कम लाभ नहीं है। परन्तु समाज में केवल स्थिरता के गुण हों तो उसमें उत्कर्ष नहीं, कृतार्थता नहीं है। थोड़ा धुआँ करके मधु-मक्खियों को उड़ाकर शहद लूटने का धन्धा जिस तरह पश्चिमी लोग रात-दिन करते हैं, उसी तरह हम जड़-समाज से उसको ख़बर न पड़े इस रीति से चाहे जो काम ले सकते हैं, उसे चाहे जिस स्थिति तक पहुँचा सकते हैं। मधुमक्खी की तरह समाज भड़क न उठे तो कोई बात नहीं।

हिन्दुस्तान में सच देखो तो जाति-जाति के बीच वैमनस्य नहीं है, कोई मनमुटाव नहीं है, साँप-नेवले के हित-सम्बन्ध परस्पर विरुद्ध होने से उनमें जैसी कट्टर शत्रुता होती है वैसी शत्रुता नहीं है; अगर कुछ है तो वह एक-दूसरे के बारे में गहरा और भयानक अज्ञान है। और जहाँ अज्ञान नहीं वहाँ ज़हरीला कुज्ञान है। चाहे जैसी भ्रामक कल्पनायें एक-दूसरे ने एक दूसरे के बारे में चलादी हैं। और

वे सब रूढ़ि की जड़ता से जीवित बनी हुई हैं। 'ब्राह्मण और साँप एकसे हैं', 'वनिये की चमड़ी जाय पर दमड़ी न जाय', 'मुसलमान बड़े बेईमान', ऐसी-ऐसी कथोक्तियाँ कुज्ञान की द्योतक हैं। इसका एक सबूत यह है कि ऐसी अधिकांश कथोक्तियाँ निन्दामूलक ही होती हैं। हिन्दुस्तान में ऐसी एक भी जाति अथवा एक भी धर्म या पन्थ नहीं कि जिसके बारे में अनुदार वृत्ति की कल्पना न हो। और तो और पर ज़िम्मेदार आदमी भी ऐसी कथोक्तियों का उपयोग करते मालूम पड़े हैं।

जाति-उपजातियों के बीच के प्रश्न का निराकरण करने का प्रथम और सबसे महत्त्वपूर्ण मार्ग यह है कि जातियों में एक-दूसरे के बारे में अज्ञानमूलक या कुज्ञानमूलक जो अभिप्राय बद्धमूल होगया है उसपर प्रहार करना चाहिए। चार जने इकट्ठे हों तो जो जाति हाज़िर न हो उसकी निन्दा होगी ही। वह इस हदतक कि स्त्री के उदर से जन्म ग्रहण करनेवाले पुरुष स्त्री-मात्र की यथेच्छ निन्दा करते हैं और 'अनृतं साहसं माया' आदि अधार्मिक वचनों को धार्मिक बताकर प्रचलित रखते हैं। जाति पर से कोई किसीकी निन्दा करता मालूम पड़े तो फौरन बुद्धिमान लोगों को उसका वहाँ-का-वहीं विरोध करना चाहिए। अनुपस्थित जाति के बारे में चाहे जैसी अनुदार बात कहना नामर्दी है, नीचता है, असंस्कारिता है, यह बात समाज की हड्डियों में बैठ जानी चाहिए। पारस्परिक भलमंसाहत की जितनी सच्ची बातें मिल सकें वे सब समाज में नोटों की तरह प्रचलित करनी चाहिएँ। मि० एण्डरूज़ अंग्रेज़ होते हुए भी भले आदमी हैं, डा० अनसारी मुसलमान होते हुए भी न्यायनिष्ठ थे, अमुक व्यक्ति मारवाड़ी होते हुए भी उदार है, अमुक व्यक्ति कोंकणस्थ होने पर भी

सन्त हुआ है। ऐसी-ऐसी बातें हम सुनेंगे, तब उसका मूलोद्देश ग़लतफ़हमी दूर करना मालूम पड़े तो भी परिणाम तो आख़िर ग़लतफ़हमी को जारी रहने देना ही है यह ध्यान में रखना चाहिए। क्योंकि लाखों अपवाद एकसाथ हमारे सामने नहीं आते। जिस अपवाद पर नज़र पड़ी उसका फैसला किया नहीं कि सच्चा अनुभव निर्जीव हो जाता है और दुर्जनता की ग़लतफ़हमी बनी रहती है।

लोकमानस की इन सब विशेषताओं को मद्देनज़र रखकर हरेक जानकार आदमी को जातियों सम्बन्धी समस्त अनुदार उद्गारों को ज़मीन में गाड़ देने के लिए कमर कस लेनी चाहिए।

इस काम को नीति के तौर पर करने से इसमें कोई फ़ायदा न होगा। यूरोप में भौतिक शास्त्रों और कल-कारख़ानों की अभूतपूर्व प्रगति होने से ऐसा भास होने लगा है कि धर्म के बग़ैर समाज क़ायम रह सकेगा। पिछले पचास-पौनसौ वर्षों में प्रगति के जो प्रयत्न हुए, क़रीब-क़रीब वे सभी मानव-स्वभाव को सुधारने के समस्त प्राचीन मार्गों को एक ओर रख केवल बाह्य परिस्थिति सुधारने की दिशा में हुए हैं। सामाजिक रचना बदलना, नियम बदलना, उन्हें विशेष व्यापक बनाना, सरकारी और सार्वजनिक कोष से सुख-सुविधा के साधन बढ़ाना, शिक्षण द्वारा बहुजनसमाज के दिमाग़ में जानकारी बढ़ाना और बीमारियों के लिए जुदी-जुदी दवाइयाँ तैयार करना, इन सभीमें आजकल की प्रगति समा जाती है। मनुष्य-स्वभाव तो जैसा है वैसा ही रहेगा, उसे बदलना बहुत सम्भव नहीं है, और सम्भव हो या न हो तो भी उसे बदलने की कोई ख़ास वजह नहीं है; ऐसी वृत्ति पिछली दो पीढ़ियों ने बताई है।

इसका नतीजा यह हुआ है कि मन बड़ा करने की उच्च भूमिका

पर जाकर झगड़े मिटाने के बजाय परस्पर स्वार्थ का मेल बैठाकर कामचलाऊ समाधान करने के तत्त्व पर ही उन्हें टालने के प्रयत्न होते हैं। ऐसा होने से निम्न वृत्तियाँ ज़ोरदार होती हैं, पिछड़े हुए लोगों को ऐसा लगने लगता है कि झगड़े-बखेड़ों को जारी रखने में ही हमारा कुछ लाभ होगा, नकटापन बढ़ता है और नैतिक आदर्श हमारी आँखों के सामने नष्ट होते जाते हैं।

धर्म-धर्म और जाति-जाति के झगड़े हिन्दुस्तान में तो नीति के ज़ोर पर नहीं ही मिटेंगे। सब झगड़ों के मूल में अज्ञान और अनुदारता है। इनमें से एक दोष नैतिक और दूसरा बौद्धिक है। इन दोनों को दूर करना चाहिए। झगड़ा मिटाने के लिए प्रतिपक्षी को समझाने के बजाय उसे समझने का विशेष प्रयत्न होना चाहिए। क्षुद्रता और अविश्वास की खाई पट जाने पर परस्पर उदारता बताने और करने की स्पर्द्धा शुरू होगी और वह कल्याणकारक सिद्ध होगी।

केवल उच्चस्वार्थ की दृष्टि से देखनेवाले में इतनी श्रद्धा होनी चाहिए कि कोई किसीके वास्तविक सामर्थ्य को नहीं लूट सकता। जो कोई उदारता से कुछ देदेने को तैयार होता है उसकी शक्ति कम होने के बजाय उलटी बढ़ती है। और दुर्बल या अज्ञानी को सभी देदिया जाय तो भी वह उतना ही सम्हाल या उपयोग में ला सकेगा जितनी कि उसकी शक्ति होगी, यह निस्सन्देह है। सामर्थ्य-वृद्धि के लिए लोभ और महत्वाकांक्षा बढ़ाने के बजाय ज़िम्मेदारी का क्षेत्र बढ़ाना चाहिए, उच्च वातावरण में रहना चाहिए, आलस्य और विलासिता में कमी करनी चाहिए। अखण्ड उद्योग, उचित किफायतशारी और विशाल-हृदयता में ही सब तरह का सामर्थ्य समाविष्ट है।

गाँवों में इस बारे में शहरों जैसा हीन वातावरण नहीं, यह एक

बड़ा लाभ है। किसानों में सहयोग विशेष होता है, व्यापारियों में प्रतिस्पर्द्धा होती है, और सरकारी नौकरों में एक-दूसरे को गिराकर हीन स्वार्थ सिद्ध करने का नीतिबाह्य व्यवहार विशेष देखने में आता है। गाँवों में नौकरों का सवाल बहुत नहीं होता, व्यापार मामूली ही होता है, और मुख्य धन्धा खेती-मजूरी का तथा गौण व्यवसाय मरणावस्था को पहुँचे हुए उद्योग-धन्धों का रहता है; ऐसी हालत होने के कारण गाँवों में जात-पाँत के झगड़ों के लिए बहुत अवसर नहीं रहता।

लेकिन गाँवों के लोग जितने अज्ञान उतने ही विकारवश होते हैं। धर्म के नाम पर, जाति के नाम पर, किसी भी विकार के नाम पर उन लोगों के मनोविकार को भड़का देना मुश्किल नहीं है। फिर भी ऐसा दावानल शहरों की बनिस्बत गाँवों में कम मात्रा में सुलगता है। क्योंकि, वहाँ जीवन-सहयोग का वातावरण विशेष होने के कारण सब जातियाँ और धर्म ओतप्रोत होते हैं।

आमतौर पर झगड़ा शुरू होते ही दाँव-पर-दाँव लगानेवाले हरेक पक्ष को अपना धर्म प्रतिपक्षी के जितना ही संकुचित, लड़ाकू और अन्धा बना देना पड़ता है, और फिर दोनों को आगे-पीछे की खोद-पछाड़ करने की सूझती है। सामनेवाले को काला सिद्ध करने के लिए उसके मुँह पर काजल चुपड़ने के बजाय अगर हम अपने मुँह को धो-पोंछकर उजला रक्खें तो सामनेवाला अपने-आप काला दिखलाई पड़ेगा और उसे भी मुँह धोने की ज़रूरत महसूस होगी। दो बालक स्लेट पर लकीरें खींचते हों और उनमें से एक की आड़ी-टेढ़ी तथा दूसरे की बिलकुल बराबर आवें, तो जिसकी लकीरें बिगड़ेंगी वह उन्हें सुधारने की कोशिश ज़रूर करेगा। कम-से-कम

यह तो वह अपने मन में समझेगा ही कि मेरी लकीरें घटिया हैं, और वह मन में यह समझे यही कुछ कम नहीं है। इसीसे सबका समाधान हो जाना चाहिए। उसके मुँह से हार का इक़रार कराने का प्रयत्न कभी न होना चाहिए।

जीवन के औद्योगिक, समाजिक, धार्मिक, राजनैतिक और शिक्षा-सम्बन्धी विभाग हम विचार और चर्चा की सुविधा के लिए करते हैं। मूल में तो जीवन एकरूप ही है। उसके टुकड़े-टुकड़े करके उसे जीवित नहीं रक्खा जा सकता।

आप चाहे जितने औद्योगिक और राजनैतिक फेरबदल करें लेकिन धर्म और सामाजिक विषयों में हाथ न डालें, ऐसा कहनेवाले कितने ही लोग होते हैं। मानों सामाजिक और धार्मिक भूलों का समाज पर कोई असर ही न पड़ता हो, अथवा धर्म और समाज-व्यवस्था में दोष हो ही न सकते हों! गाँवों में धार्मिक सुधारों की बड़ी ज़रूरत है। खाने-पीने के बारे में शुद्धता और उच्च-आदर्श का आग्रह रखना, ये दोनों बातें संस्कारिता और सामर्थ्य क़ायम रखने के लिए आवश्यक हैं। लेकिन आज हमारे समाज में छूतछात, सक़रे-निखरे आदि का जो ढोंग पैठ गया है उसे तो लोगों के कल्याण की ख़ातिर नष्ट कर ही डालना चाहिए। क्योंकि इनमें स्वच्छता का जो अंश है वह बहुत कम है। इनमें तो खाली बड़प्पन और अमीरी की भावना ही मुख्य है। इसके अलावा हिन्दू-स्वभाव में अज्ञानमूलक आग्रह से हरेक बात का अतिरेक करने की ख़राबी पहले से ही मौजूद है। गाँवों में फैले हुए इस तरह के ढोंगों को नष्ट करने का प्रयत्न सच्चे धार्मिक लोगों को ही करना चाहिए; और वह डरते-डरते नहीं, बल्कि झपाटे के साथ, दृढ़तापूर्वक और लोगों को समझा-बुझाकर। हिन्दू मन्दिरों

की व्यवस्था और रहन-सहन में महत्त्वपूर्ण फेरबदल करने चाहिएँ। लेकिन इस विषय का तो स्वतन्त्र विवेचन करना ही ठीक होगा।

मनुष्य चाहे जिस जाति या धर्म का हो, उसके अमंगल दशा में होने के सिवा उसे छूने में किसी भी तरह की बाधा न होनी चाहिए। इसी प्रकार भोजन उपयुक्त व्यक्तियों के हाथों सफ़ाई से पकाया जाकर पंगत में परोसा जाता हो और परोसनेवाला परोसने के नियमों का पूरी तरह पालन करता हो, तो फिर पंगत में बैठे हुए लोग किस जाति या धर्म के हैं यह बखानने अथवा पूछताछ करने की कोई ज़रूरत न होनी चाहिए। दूसरों की अमानत को खाजानेवाले, झूठी गवाही देनेवाले, व्यभिचार करनेवाले, सगे-सम्बन्धियों को भी दग़ा देनेवाले और चोरी-छिपे अभक्ष्य-भक्षण एवं अपेय-पान करनेवाले एक ही जाति के लोग आज साथ-साथ बैठकर भोजन करते हैं। उस वक़्त पंक्ति-व्यवहार के नियमों में पवित्र अचारण या सदाचार के तत्त्व का पालन किया जाता हो ऐसा मालूम नहीं पड़ता। सरकारी दरबार में जिस तरह दर्जे का ऊँचा-नीचापन होता है उसी प्रकार सामाजिक जीवन में भी दरबारी ऊँच-नीच भाव को उत्पन्न करके वे नियम रचे गये मालूम पड़ते हैं जिनपर आमतौर से अमल हो रहा है; लेकिन निष्प्राण हुए कलेवर की भाँति पंक्तिभेद के नियम आज तो केवल दुर्गन्धि ही फैलाते हैं।

पानी के बर्त्तन जूठे न हों तो चाहे जिस जाति के हाथ का पानी काम में लाना चाहिए। इस बारे में जात-पाँत या धर्म की रुकावट न होनी चाहिए। इतनी प्रगति होने के बाद कुएँ का सवाल अपने-आप हल होजायगा। अपने विटलजाने की भावना हमने व्यर्थ ही नाज़ुक कर रक्खी है। सबसे दुर्भाग्य की बात तो यह है कि मिज़ाज

निकलजाने पर भी मिज़ाजखोरी के नियम अभी धर्म के नाम पर चिपटे हुए हैं। जिन्होंने ये नियम छोड़ दिये हैं उन्होंने धार्मिक शुद्धि के हेतु से ऐसा किया हो तो बड़ा अच्छा है। लेकिन अधिकांश लोग, शहरों में जो थोड़ी धर्म की लापरवाही आ घुसी है उससे, ख़ाली सुविधा का विचार कर कितने ही इष्ट सुधार भी अनिष्ट रीति से करने लगे हैं।

धर्म-जीवन का अत्यन्त आग्रह रखनेवाले समाज-सेवकों को चाहिए कि वे जगह-जगह आश्रम क़ायम करके आसपास के प्रदेश के जीवन में ये सुधार करें। इससे धर्मनिष्ठा बढ़ेगी और सामाजिक जीवन का संस्करण होगा। यह उपाय ग्रहण किये बग़ैर हमारा समाज सुदृढ़ नहीं होगा। हम ख़ुद दूसरी जातियों का कितना अपमान करते हैं, उनकी कितनी खिल्ली उड़ाते हैं, उनका कितना हृदयवध करते और इस तरह उन्हें अपनेसे कितनी दूर धकेलते हैं, इस बात का सवर्ण हिन्दू जातियों को ख़याल ही नहीं आता; इसलिए वे ईमानदारी के साथ यही मानती हैं कि हम बिलकुल निर्दोष हैं, फिर भी अब हमारी दुर्दशा का फायदा उठाकर दूसरे लोग ज़बरदस्ती हमपर आक्रमण करते हैं।

अपने दोष देखकर जीवन-शुद्धि किये बाद जाति-जाति के बीच का वैमनस्य दूर करना कुछ सहज होगा, इसलिए प्रेम की उदारता के तत्त्व पर ही ख़ास ज़ोर देना चाहिए।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर कहते हैं कि "जाति शब्द ही जन्मवाची है", और जबतक जाति-जाति के बीच तथा भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बियों में विवाह न होंगे तबतक जाति-वैमनस्य की गुत्थी उलझी हुई ही रहेगी।

विभिन्न धर्मावलम्बियों के बीच होनेवाले विवाह किसी भी हालत में ठीक नहीं हैं। दोनों पक्षों की धर्म के बारे में एक ही तरह की अनास्था हो तो दोनों को भिन्न धर्मावलम्बी कहना ही ठीक नहीं है। धर्म का मतलब तो है सबसे व्यापक जीवन-व्यवस्था। यह व्याख्या ठीक हो, तो भिन्न-भिन्न तत्त्वों पर निर्मित जीवन-व्यवस्थाओं के बीच विवाह जैसा जीवनव्यापी सम्बन्ध न तो हो सकता है और न वह क़ायम ही रह सकता है। और कहीं जैसे-तैसे क़ायम भी रह जाय तो भी ऐसे विवाह से उत्पन्न बालकों के लिए तो वह पोषक साबित नहीं ही होगा।

ऐसा होने पर भी अगर समाज में ऐसा कोई विवाह हो ही, तो समाज को चाहिए कि उससे क्रोध में न आजाये और अपना तात्त्विक निषेध ज़ाहिर करके स्वस्थ बना रहे। सामाजिक बहिष्कार के झगड़े में कभी न पड़ना चाहिए। रोटी-व्यवहार की पद्धति ऊपर बताये अनुसार रहे तो भोजन-बहिष्कार की तो बात ही उड़ जाती है। फिर विवाह-सम्बन्ध के बहिष्कार का सवाल तो सन्तानोत्पत्ति के बाद और वह विवाह ठीक उम्र में हो तभी खड़ा होगा। उस वक़्त का समाज उसका निराकरण कर लेगा; वह भी माता-पिता के आचार-अनाचार का ख़याल रखकर नहीं, बल्कि बालकों की संस्कारिता का विचार करके।

एक ही धर्म में भी भिन्न वर्ण के लोगों के बीच विवाह होना फ़ायदेमन्द नहीं है। परन्तु इस बारे में भी बहिष्कार का शस्त्र काम में नहीं लाना चाहिए। वर्ण-व्यवस्था रहन-सहन और विचारों की समानता तथा उपजीविका के धन्धे के लिए बनाई गई है। विवाह-सम्बन्ध में वर्ण का विचार करना पड़ता है, परन्तु उसे ज़बरदस्ती

लोगों पर लादने के बजाय सामाजिक शिक्षा से ही क़ायम रखना चाहिए। जिस तरह हरेक व्यक्ति वादी या पित्त करनेवाले आहार को अपनी प्रकृति का विचार करके छोड़ देता है, जिस तरह रूढ़ धर्म की रुकावट न होने पर भी अमीरों-ग़रीबों के बीच आमतौर पर विवाह नहीं होते, जिस तरह ख़ाली लोकमत के दबाव से बाल-वृद्ध विवाह और अनेक स्त्रियाँ रखने का रिवाज हमने लगभग नामशेप कर दिया है, उसी प्रकार सवर्णों में ही विवाह होने का नियम भी समाज की समझदारी पर ही रहना चाहिए।

उपजातियों में होनेवाले विवाहों के बारे में संक्षेप में यहाँ यही कहना काफ़ी होगा कि जिस तरह एक ही गोत्र में विवाह नहीं हो सकता, भिन्न गोत्र ढूँढना ही पड़ता है, उसी प्रकार उपजाति के अन्दर ही विवाह न होने चाहिएँ। विवाह तो दूसरी उपजाति के व्यक्ति के साथ ही होना चाहिए, यह सिद्धान्त समाज के धर्मनिष्ठ नेताओं को सब लोगों को अच्छी तरह समझा देना चाहिए।

आज हिन्दू-समाज में जिस तरह जातियाँ बनी हुई हैं उस तरह वर्ण ज़िन्दा नहीं हैं। इसलिए वर्ण का निश्चय करने में पुराने ऐतिहासिक प्रमाण खोजने बैठने के बजाय सारी जाति के प्रचलित रहन-सहन और ख़ास-ख़ास धन्धों को ही देखना चाहिए। इस तरह वर्ण-निर्णय करने का काम शायद मुश्किल हो, परन्तु गाँवों में यह काम किसी क़दर सहज है।

विभिन्न वर्णवालों में विवाह होना अनिष्ट हो, तो भी ऐसा मानने की कोई वजह नहीं कि उसमें कोई पाप है। माता-पिता या संरक्षकों की सम्मति से प्रकट रूप में विभिन्न वर्णवालों में निर्मल सम्बन्ध हो, तो वह एक सामाजिक प्रयोग होता है। ऐसा समझकर, उसका प्रचार

अथवा निषेध न कर, उसपर निरीक्षण दृष्टि ही रखना ठीक है।

विभिन्न धर्मवालों में आज एका तो लगभग नहीं ही है, ऐसा कहना चाहिए। एक-दूसरे के यहाँ जाना और उठना-बैठना, एक-दूसरे के दुःख-सुख में मौजूद रहना और मदद करना, एक-दूसरे के समारोहों में भाग लेना, एक-दूसरे के धर्म तथा सामाजिक रूढ़ि के सिद्धान्तों को सहानुभूतिपूर्वक समझ लेना और अपनेको जो अच्छा लगे उसे मान लेना, यह सब अखण्ड रूप से चलते रहना चाहिए। आज तो संकुचित विधान और संगठन की वजह से और पारस्परिक अविश्वास के कारण इससे उलटा ही हो रहा है। धार्मिक रूढ़ि को सम्हालकर क़ायम रखने जितना भाईचारा रखना गाँववालों की हड्डियों में ही समाया हुआ है। सहिष्णुता तो उनका स्वभाव ही है। लेकिन अब इन वृत्तियों का एकसमान ध्वंस शुरू हुआ है। उदारता के बारे में अविश्वास और चालाकी पर अटूट विश्वास सामाजिक अधःपतन का ख़ास लक्षण है। समाज की हड्डी-पसलियाँ ढीली करनी हों तो इसके सिवा और साधन अमल में लाने की कोई ज़रूरत ही नहीं है।

विभिन्न जातियों और समाजों के बीच इस तरह का घरोपा अकेले पुरुषों में ही नहीं बल्कि सभी स्त्री-बच्चों में भी मालूम पड़ना चाहिए।

ऐसा घरोपा शुरू होने के बाद ही उसके उपयुक्त वातावरण हो सकेगा। सवर्ण जातियों की स्त्रियों में छूतछात का ढोंग बहुत होता है। यह बहुत सम्भव है कि उसका उद्देश्य अनिष्ट घरोपा न होने देना हो। परन्तु आज वह अनिष्टता नहीं रही; उलटे, यही एक अनिष्ट अथवा अरिष्ट है कि ऐसा घरोपा नहीं रहा। अतः पहले यह

छुआछूत दूर करनी चाहिए। घरोपे का व्यवहार शुरू होने पर ही निम्न जातियों में स्वच्छता, सुघड़ता, पवित्रता आनी शुरू होगी। सवर्ण लोगों की रहन-सहन की एक आदत तो सभी धर्मों और जातियों के लोगों के स्वीकार करने लायक़ है। वह यह कि एक-दूसरे का जूठा न खाया जाय। वर्त्तन, पानी और खाने की चीज़ें जूठी कभी किसीको न देनी चाहिएँ। ऊँची जातियाँ बहुत बार अपनी जूठन ज़ाहिरा तौर पर या चोरी से नीची जातियों को देती हैं; और ऊपर से कहती यह हैं कि निम्न जातियों को यह चलता है। उन्हें लेना चाहे चलता हो, परन्तु ऊँची जातियों को उन्हें अपनी जूठन देना ठीक नहीं है। जूठन तो फैंक ही देनी चाहिए। भूमि का दिया हुआ अन्न जूठा होकर निरुपयोगी बन जाय, तब अच्छा यही है कि खाद के लिए उसे फिर ज़मीन को ही पहुँचा दिया जाय।

दूसरा सवाल है मांसाहार का। मांसाहारी जातियों को अन्नाहारी जातियों के साथ सभ्यता का व्यवहार बढ़ाने के लिए कुछ बातों की सावधानी रखना आवश्यक है। दोनों के सहभोज के अवसर पर मांसाहार न होना चाहिए। बर्त्तन तथा दूसरी सब चीज़ें साफ़ की हुई होनी चाहिएँ। घर के बाल-बच्चों और नौकर-चाकरों को भी इस बारे में समझा-बुझाकर सावधान रखना चाहिए। कितने ही ख़ानदानी मुसलमानों में यह बात दिखलाई पड़ती है। उनके घर भोजन करने में कोई संकोच नहीं होता। यूरोपियन मिशनरियों के कुटुम्बों में भी यह सावधानी रखना कठिन नहीं है। कितने ही ईसाई कुटुम्बों में ब्राह्मणी ढंग अच्छी तरह काम में लाया जाता मालूम पड़ता है; परन्तु उसका यह अर्थ नहीं कि उनके लिए अण्डे, मुर्ग़ी या अन्य माँस वर्जित होता है। अन्नाहारी लोगों सम्बन्धी अपना प्रेम और

आदर व्यक्त करने के लिए ही वे तो अपने आहार के अलावा ब्राह्मणा साधन रखते हैं। और इतनी बात अन्नाहारियों के लिए काफ़ी होनी चाहिए। अगर माँसाहार त्याज्य है, तो उस तत्त्व का प्रचार होना चाहिए; परन्तु माँसाहारी लोगों का त्याग करने से वह प्रचार नहीं होगा। हमें तो अन्नाहार के कुशल मिशनरी बनना चाहिए।

: ७ :

अस्पृश्यता-निवारण

शहर में गाय रखना जितना मुश्किल है, छुआछूत के पुराने नियमों का पालन करना भी उतना ही मुश्किल है। लोगों का रहन-सहन ज्यों-ज्यों बदलता गया है, उसके साथ-साथ पुराने सामाजिक रीति-रिवाज भी मिटते गये हैं। अस्पृश्ता-निवारण का आन्दोलन गाँवों की बनिस्बत शहरों में ज़्यादा हुआ है, इससे ऊपर बताये हुए शहरीपन को उत्तेजन मिला है। जहाँ-जहाँ अस्पृश्यता नष्ट हुई है वहाँ-वहाँ न्याय करने के आग्रह से ही ऐसा हुआ है, यह नहीं कहा जासकता; फिर भी यह बात लोगों के ठीक-ठीक गले उतरने लगी है कि अस्पृश्यता अन्यायमूलक है और उसमें धर्म नहीं अधर्म है, और यही कारण है कि अभी जहाँ-जहाँ छुआछूत मौजूद है वहाँ भी उसकी पहले जितने ज़ोर के साथ हिमायत नहीं की जाती। अब यह स्थिति नहीं रही कि हरेक धर्माभिमानी हिन्दू छुआछूत का समर्थन ही करे। इसके विपरीत यह कहनेवाले अनेक सनातनी मिलते हैं कि हज़ारों वर्षों से चली आई और फिर धर्म के नाम पर प्रचलित रूढ़ि एकदम नहीं मिट सकेगी; इसके लिए ज़रा धीरज से ही काम लेना चाहिए।

अस्पृश्यता पापमूलक है, इस बारे में चर्चा अथवा विरोध अब बिना छेड़े कोई नहीं करता।

लेकिन विरोध को तो एक वक्त सहा जा सकता है, पर धीरज से काम लेने का यह तत्त्वज्ञान बड़ा भयंकर है। अमेरिकन स्वातंत्र्य-वीर विलियम लायड गैरिसन ने जब कमर कसके ग़ुलामी का विरोध करना शुरू किया, तो व्यवहारकुशल लोग उससे कहने लगे—"ऐसी बेवक़ूफ़ी मत करो, ज़रा सोच-समझकर काम करो।" तब उसने ग़ुस्से में आकर यह जबाब दिया था, कि "धीरे-धीरे क़दम रखना मैं नहीं जानता। तुम्हारे घर में आग लग रही हो, तब तुमसे कोई यह कहे कि नल ज़रा धीरे-धीरे खोलो और पानी ज़रा थोड़ा-थोड़ा डालो, तो तुम उसकी बात कितनी सुनोगे? अपना घर लूटने-वाले चोर का विरोध धीरे-धीरे तुम कैसे करोगे? अपनी माता पर अत्याचार करने में प्रवृत्त नराधम का प्रतिकार धीरे से किस तरह कर सकोगे?" सुधार या प्रगति भले ही आराम के साथ हो, परन्तु अन्याय की जड़ को तो एक ही झटके से उखाड़ फेंकना चाहिए, या खुली आँखों उसे देखते रहनेवाले हम लोगों का सर्वथा नाश हो जाना चाहिए।

धनवान, विद्वान, हिकमती, कलाकार, साहसी और महत्वाकांक्षी सभी लोगों ने गाँव का परित्याग करके गाँवों का और मनुष्य-जाति का द्रोह किया है। फ़ुटकर माल जिस तरह गाँवों में पुराना, बासी और सड़ा-गला हुआ मिलता है उसी तरह धर्म, सामाजिक कल्याण, आर्थिक हित, नये युग की शिक्षा आदि के सभी विचार वहाँ सड़े हुए यानी विकृत रूप में ही फैलते हैं। हमारे कहने का मतलब यह नहीं है कि पुराना सब कुछ ख़राब ही है। घर में पुराने बर्त्तन रक्खे ही न जायँ, यह हम

नहीं कहते। पुराने वर्त्तन तो गृहस्थपन, संस्कारिता और प्राचीन वैभव को प्रकट करते हैं। लेकिन यह ज़रूर है कि पुराने वर्त्तनों का व्यवहार करना हो तो उन्हें रोज़ साफ़ करके करना चाहिए। जो लोग ऐसा कहते हैं कि पुराने जंग लगे वर्त्तनों पर हरे रंग का मोरथोथे का जो ज़हर—जंग—चढ़ जाता है उसे भी सम्हालकर रखना और भोजन के साथ पेट में जाने देना चाहिए, उन भूत-काल के उपासकों के लिए मरकर भूत बनने के सिवा और कोई रास्ता नहीं है। क्योंकि उन्हें समझना चाहिए कि भूतकाल का द्रोह तो ज़िन्दा रहने में भी होता है।

आधुनिक समाज में धार्मिक जागृति करके नई छाप डालनेवाले अधिकांश सत्पुरुष और महात्मा शहरों में ही रहते हैं। जहांतक आवा-जाई की सुविधा के साधन हों, उनके चरण-कमल भी वहीं तक पहुँचते हैं। यही कारण है कि गाँवों में अस्पृश्यता-निवारण की हल-चल बहुत थोड़ी पहुँची है। लोभी हरदासी, पौराणिक और कथाकार आदि इसी बात का विचार करते हैं कि लोगों को क्या रुचिकर होगा। लोगों का हित किसमें है, इस बात का विचार करने की उन्हें आदत या हिम्मत ही नहीं होती। अपनी वाणी में आधुनिकता का समावेश करने की ज़रूरत तो उन्हें महसूस होने लगी है, लेकिन जब वे अपनी वाणी में धर्मतेज लाने की ज़रूरत समझेंगे तभी वे समाज के सेवक और नेता बन सकेंगे। तबतक तो समाज-रंजक के रूप में उनका जो उपयोग है वही रहेगा।

यहांतक की हुई टीका में अप्रत्यक्ष रूप से रचनात्मक सूचनायें ही की गई हैं।

अस्पृश्यता-निवारण करने की ज़िम्मेदारी धर्मनिष्ठ, प्रजा-हितैषी,

निःस्पृह और नैतिक धैर्य वाले लोगों की ही है। इसके लिए अपने मन में से अस्पृश्यता का भूत निकाल डालना ही काफ़ी नहीं है। धर्म, रूढ़ि और संस्था के रूप में जो पाप समाज में प्रवेश कर जाते हैं वे कालान्तर में अपौरुपेय वन जाते हैं; यानी फिर उनकी ज़िम्मेदारी किसी विशेप व्यक्ति के सिर नहीं रहती। ऐसी रूढ़ियों की निर्दयता, घातकता और असह्य अन्याय सब वेचारे अंत्यजों को ही वरदाश्त करना पड़ता है। मगर ऐसी रूढ़ियों पर चलनेवाले लोग निर्दय, घातक या अन्यायी होते हैं, यह नहीं कहा जासकता। रूढ़ि की निन्दा होने पर व्यक्तियों को लगता है, कि हमारे ऊपर यह व्यर्थ का प्रहार हो रहा है। परन्तु व्यक्तियों को दोष-मुक्त करने से पापमूलक रूढ़ि के शिकार हुए लोगों पर का ज़ुल्म या उनकी पीड़ा कम नहीं होती। फिर भी जो लोग व्यक्तियों पर क्रोध करते हैं, उनके साथ 'जैसे के साथ तैसा' का न्याय स्वीकार कर स्पृश्य-समाज के व्यक्तियों को सज़ा देने का इरादा रखते हैं, वे रूढ़ि की कमर तोड़ने के वदले उलटे रूढ़ि को मज़वूत ही करते हैं। किसी भी तरह के समाज-सुधार करते समय इस वात को 'कभी न भूलना चाहिए। समाज-सुधार करने में आज पर्यन्त यह वात भुलाये रखने से, समाज ने पापी रूढ़ि के प्रति अपना प्रकोप रूढ़ि से अन्धे होकर चिपटे रहनेवाले व्यक्तियों पर उतारकर नया अन्याय और नया गड़वड़-घोटाला ही किया है। इतिहास का पन्ना-पन्ना इस बात का साक्षी है।

अस्पृश्यता-निवारण की जिम्मेदारी खासकर दो वर्गों पर आती है। (१) जिन्होंने अस्पृश्यता चलाई है उनके वारिस उच्चवर्ण के लोग, और (२) जिन्हें आज अस्पृश्यता घेर रही है वे दलित 'अस्पृश्य'।

इन दलितों की शिक्षा, इनके धार्मिक विचार, और आज के

समाज में उनका स्थान—इन बातों का विचार करते हुए, अस्पृश्यता दूर करने का दृढ़ प्रयत्न करने की ज़िम्मेदारी उनके ऊपर नहीं डाली जा सकती। उन्हें तो रोज-रोज अन्याय और अपमान सहने पड़ते हैं; इसलिए यह बात अस्वीकार नहीं की जा सकती कि सभी न्याय्य मार्गों से सवर्णों के विरुद्ध विद्रोह करने का उन्हें पूरा हक़ है। यह बात सच है कि ऐसे विद्रोह से समाज के सभी लोगों को नुक़सान उठाना पड़ेगा, परन्तु अस्पृश्यों को यह कौन कह सकता है कि इसीलिए तुम अन्याय ही सहते रहो ?

परन्तु दुर्दैव की बात इससे जुदी ही है। अस्पृश्य इतने दलित होगये हैं कि उनके मन में विद्रोह की इच्छा उत्पन्न करने में भी लम्बा वक़्त लग जायगा; फिर विद्रोह की शक्ति पैदा करने की बात तो उसके बाद का काम है। और इतने पर भी विद्रोह की शुरुआत में तो अस्पृश्यों का ही अधिक नुक़सान होता है। प्रजाहितैषी लोगों को इन विचारों पर इतना अधिक भार नहीं डालना चाहिए। परन्तु अस्पृश्यों में अस्मिता जागृत होने से पहले ही उनकी अस्पृश्यता दूर कर देने के आग्रहपूर्ण प्रयत्न स्पृश्यों को हृदय से करने चाहिएँ।

जबतक ऐसा न हो तबतक अस्पृश्यों में जो बात करने की है, वह यह है कि उनमें प्रचलित ख़ास-ख़ास व्यसन दूर किये जायँ। वे व्यसन ये हैं—(१) मरे हुए जानवरों का यानी मुरदार मांस खाना; (२) व्यसन के कारण अथवा न्यात या जाति का रिवाज होने के कारण शराब पीना; (३) लोगों का जूठा अन्न लाकर खाना; (४) हमेशा क़र्ज़ में डूबे रहना; (५) जहां शिक्षा मिल सकती हो वहां भी उसके बारे में उदासीन रहना, बल्कि शिक्षा का विरोध करना; (६) शहरों और गांवों की रोज सफ़ाई करते रहने पर भी ख़ुद साफ़ न रहना; और

(७) पाप होने पर भी जिन्हें जिसे व्यसन नहीं कहा जा सकता लेकिन हिन्दू-समाज में स्थान पाने के रास्ते में जो वड़ी रुकावट है वह गोमांस-भक्षण।

मरे हुए ढोर का चमड़ा उतारकर उसे कमाने का काम अन्त्यजों को अपने रहने की जगह के आसपास ही करना पड़ता है। यह अत्यन्त अमंगल और आरोग्य के लिए हानिकर है। इस वारे में तुरन्त सुधार होना चाहिए। चमड़ा उतारकर उसे कमाने के काम की जगह, मनुष्यों की वस्ती से दूर, हवा और वरसात के पानी की कीचड़ का ख़याल रखकर निश्चित करनी चाहिए। साथ ही इस वात की सावधानी भी रखनी चाहिए कि शिकारी जानवर वहाँ कोई नुक़सान न करने पायें। [चमड़ा कमाकर उसकी भिन्न-भिन्न वस्तुयें वनाके वेचने का वड़ा और नफ़े का धन्धा गो-रक्षकों के ही हाथ में रहना चाहिए, यह वात अन्त्यजों को समझाकर ऐसी परि-स्थिति करने के लिए उन्हें व्यावहारिक मदद भी दी जानी चाहिए।]

अस्पृश्यता-निवारण की दूसरी यानी पापमूलक रूढ़ि पर प्रहार अथवा हृदय-परिवर्त्तन करने की वाजू स्पृश्य-समाज के प्रतिष्ठित अग्रणी लोगों को खुद सम्हालनी चाहिए, और जिस प्रकार घर में आग लगने पर हम अपने वसभर पानी छिड़कते हैं उसी प्रकार मन लगाकर उन्हें यह काम करना चाहिए। जवतक लोगों का विरोध था तवतक तो यह काम आगे वढ़ना सहज था। लेकिन अव वौद्धिक विरोध लगभग शान्त होगया है। अव तो अस्पृश्यता का निर्जीव कलेवर अनास्था के रूप में पड़ा सड़ रहा है और सर्वत्र अपनी दुर्गन्ध तथा वीमारियाँ फैला रहा है।

अस्पृश्यों के साथ न्याय से पेश आयेंगे, उनकी प्रगति के मार्ग

में कभी कोई रुकावट खड़ी नहीं करेंगे, ऐसा हलका न्याय करने से काम नहीं चलेगा। सैकड़ों बल्कि हज़ारों वर्षों के पाप का प्रायश्चित्त करने के लिए तो, चाहिए यह कि हम अस्पृश्यों की मदद के प्रसंग इच्छापूर्वक खोज निकालें। आजतक उनके साथ पक्षपात हुआ है, इस बात को याद रखकर अब स्वार्थत्याग के साथ उनके लाभ के लिए पक्षपात करना चाहिए, और यह सब आन्तरिक भावना से हो।

अस्पृश्यता-निवारण में ख़ासतौर से इन बातों का समावेश होता है—(१) दूकानों में, खेती के काम में, मन्दिरों में, इसी तरह कुओं आदि जिन-जिन स्थानों में अस्पृश्यों के सम्पर्क में आना पड़ता है वहाँ-वहाँ उन्हें दूर न रखकर उनके साथ किसी भी तरह का भेदभाव न किया जाय। (२) सार्वजनिक या ख़ानगी सभी कुओं से पानी निकालने का उन्हें उतना ही अधिकार होना चाहिए जितना कि दूसरी जातिवालों को होता है। ये सुधार सबसे पहले होने चाहिएँ। (३) जिन्हें मूर्त्ति-पूजा से विरोध नहीं है, बल्कि देव-दर्शन में जिनकी आस्था है, ऐसे सब स्पृश्य और अस्पृश्य लोगों को—फिर वे चाहे किसी जाति अथवा धर्म के क्यों न हों—मन्दिर-प्रवेश की छूट होनी चाहिए। (४) शिक्षा-संस्थाओं, व्यायामशालाओं, वाचनालयों, पुस्तकालयों, अस्पतालों वग़ैरा समाज-सेवा की संस्थाओं में अस्पृश्यों के साथ आदर और विवेक का व्यवहार किया जाना चाहिए। कोई भी सामाजिक सेवा उन्हें दूसरी जाति वालों के जितनी ही आस्था और सहज-भाव से मिलनी चाहिए। (५) विवाह की वर-यात्रा, जातिगत प्रदर्शन आदि में अस्पृश्यों को ऐसे प्रतिबन्धों का पालन करना पड़ता है जिससे उन्हें अपनी हीनता का भान होता रहता है; ऐसे प्रतिबन्धों को मिटा देना चाहिए। (६) अस्पृश्यता-निवारण का ही एक अंग

समझकर टट्टियों (पाखानों) की व्यवस्था में ऐसा सुधार करना चाहिए जिससे वह मनुष्य को शोभा देने जैसी हो जाय। पाखाने के पास भोजन के लिए बैठने पर भी किसीको अटपटा न लगे, इतनी सफ़ाई रक्खी जाय; यही आदर्श होना चाहिए। [पाखाने साफ़ करने का काम अन्त्यजों के ही हाथ में न रहकर दूसरी जातिवाले भी उसे करें, यह इष्ट जरूर है; लेकिन इस सुधार को अमल में तभी लाना चाहिए जबकि जो अस्पृश्य कुटुम्ब आज पाखाने साफ़ करने का काम करते हैं उनकी आजीविका की कोई और व्यवस्था करदी जाय] (७)अन्त्यज बालक-बालिकाओं का सामान्य शिक्षा-संस्थाओं में प्रवेश कराने के बाद भी खास अस्पृश्यों के ही लिए कई आश्रम चलाने पड़ेंगे, और उनमें भी बालकों की बनिस्बत बालिकाओं की शिक्षा पर विशेष ध्यान देना पड़ेगा; नहीं तो समाज का स्वास्थ्य बिगड़ेगा और अस्पृश्य कुटुम्ब दुःखी होंगे। (८) लोकल बोर्डों, म्यूनिसिपैलिटियों, सरकारी कौंसिलों आदि संस्थाओं में जहाँ-जहाँ लोक-प्रतिनिधि जाते हों वहाँ हम पिछड़े हुए और कम तादाद वालों का तिरस्कार ही होगा, ऐसी शंका अस्पृश्यों को बनी ही रहती है। जिस हदतक यह दूर हो सके उस हदतक उन्हें आगे लाना चाहिए। इसके अलावा उनके व्यक्ति-स्वातंत्र्य और मत-स्वातंत्र्य की रक्षा कर इन नये कामों के करने में हमें उनकी मदद करनी चाहिए। (९) अन्त्यजों में से सात्त्विक वृत्तिवाले होशियार युवकों को संस्कृत भाषा और हिन्दू धर्मशास्त्रों का अध्ययन करने के लिए खूब प्रोत्साहन देना चाहिए, और हिन्दू-धर्म के अच्छे बुरे दोनों पहलुओं की स्वतंत्र रीति से छानबीन करके उसके भव्य मिशन का उन्हें बोध होजाय ऐसी उनके लिए सुविधा कर देनी चहिए।

: ८ :

सामाजिक रीति-रिवाज

भारतीय संस्कृति बहुत प्राचीन होने के कारण उसमें समाजहित का विचार बहुत गहराई के साथ किया गया है। यह संस्कृति काल की कसौटी पर स्थायी और समर्थ साबित हुई है। दीर्घजीवन के लिए जो-जो चीज़ें ज़रूरी हैं वे सब समय-समय पर इसे मिलती रही हैं; यही वजह कि अत्यन्त प्राचीन होने पर भी यह संस्कृति जीर्ण नहीं हुई है।

भारतीय संस्कृति की एक श्रद्धा यह है कि जो तत्त्व सचमुच अच्छे हैं वे चाहे जितने एकत्र हों तो भी परस्पर विघातक नहीं होते; ज़रूरत सिर्फ़ इस बात की है कि इन तत्त्वों को एकत्र करने की कला हमको आनी चाहिए। यह सारा विश्व एकरूप है, इसमें की सब अच्छी वस्तुओं का आपस में मेल बैठना ही चाहिए, और अनुकूल तथा स्थायी मेल बैठ जाने के बाद उसमें से आत्म-साक्षात्कार करनेवाला समृद्ध संगीत—जीवन-संगीत—निकलना ही चाहिए; यह श्रद्धा भारतीय संस्कृति की विशेषता है, प्राण है।

और इसी कारण भारतीय संस्कृति में युद्ध, जीवन-कलह, वैर और द्रोह इन सबको स्थान नहीं है। मनुष्य-स्वभाव में जो अनेक दोष हैं, जो महान् रिपु हैं, उनके प्रादुर्भाव से युद्ध भले ही हों; परन्तु युद्ध को जीवन-व्यवस्था के एक आवश्यक और आध्यात्मिक अंग के रूप में भारतीय संस्कृति ने कभी स्वीकार नहीं किया।

विभिन्न धर्मशालों में परस्पर विवाद हो तो वह किस शास्त्र अथवा किस नियम के अनुसार हो सकता है, यह जिस प्रकार तट-

स्थता से, निष्पक्ष रूप में और उच्च भूमिका पर चढ़कर तय करना चाहिए, उसी प्रकार इसका भी बुद्धिपूर्वक निर्णय करने की ज़रूरत है कि भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के एकत्र होने से उनका साहचर्य शुरू होने पर उनका मेल किन तत्त्वों पर बैठाया जाय। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का न्याय प्रकृति में दिखाई देता है, लेकिन वह तिर्यक्-सृष्टि का न्याय है। इस न्याय में आध्यात्मिक ऊँचाई नहीं है। दो संस्कृतियाँ एकत्र हों तो उनमें संघर्ष होकर एक को दूसरी का आहार बनना ही चाहिए, ऐसा कोई निरपवाद नियम नहीं है। आर्य और द्रविड इन दोनों को अलग-अलग संस्कृति मानें तो यह नहीं कहा जा सकता कि उनका साहचर्य युद्ध या संघर्ष के द्वारा हुआ है। वे तो दोनों इस तरह ओत-प्रोत होगई हैं जैसे दूध में शकर मिल जाती है। दूसरा ऐसा ही उदाहरण चीनी और भारतीय संस्कृतियों के मेल का है।

ऐसे संस्कृति-साहचर्य का सामान्य तत्त्व, सामान्य शास्त्र, एकत्र होनेवाली संस्कृतियों के साथ मेल खानेवाला तो हो ही, उसके अलावा वह दोनों से उच्च और श्रेष्ठ भी होना चाहिए।

भारतीय इतिहास बतलाता है कि संस्कृति-साहचर्य का यह तत्त्व परस्पर प्रेम और आदर, सद्भाव और समानभाव है। सत्य, अहिंसा, सरलता, सहनशीलता, त्याग और विविधता में उच्च एकता देखने की दिव्यदृष्टि—इन गुणों के समुच्चय को साहचर्य का रसायन कहना चाहिए। भारतीय जन-समाज में जितना यह रसायन होगा उतना ही विश्वैक्य साधन करने का काम भारतवर्ष कर सकेगा।

भारतवर्ष में सबका प्रवेश है, सबको आमंत्रण है, सबका स्वागत है। यहाँ न किसीका त्याग है, न बहिष्कार है। यहाँ किसीके साथ—

व्यक्ति, समाज, समाजमान्य रीति-रिवाज और विविध संस्कृति, किसीके भी साथ—आत्यन्तिक असहयोग नहीं है। ज़रूरत सिर्फ़ इस बात की है कि सब ऊपर बतलाई हुई साहचर्य की निष्ठा अथवा भारतीय रसायन को स्वीकार करें। जो उसे स्वीकार न करें उनका भी बहिष्कार नहीं, परन्तु इस रसायन का महत्व न मालूम हो तब-तक उन्हें भारतीय प्रेमसंगीत के सुर निकालना न आयगा।

जगत् में जबतक कलह है तबतक भारतीय संस्कृति को फिर-फिर क्रूस पर चढ़कर पुनरुत्थान करके बताना चाहिए। भारतीय संस्कृति के भाग्य में यही बदा है। देवताओं और दानवों ने लोभ या ईर्ष्या से समुद्र-मन्थन किया तो भी विष तो महादेव के ही हिस्से आया।

जिन्हें रोज़ अग्नि-प्रवेश करना पड़ता है उनमें सुवर्ण की तरह एक प्रकार का तेज, एक प्रकार की मृदुता, एक प्रकार की सौम्यता और उसके साथ एक प्रकार की दृढ़ता, सत्त्व, स्वत्व, सर्वग्राहकता आजाती है।

हिन्दुस्तान के सामाजिक रीति-रिवाज आर्य संस्कृति के द्योतक हैं। उन सबमें जाति और व्यक्ति के अनुसार चाहे जितने भेद हों तो भी सर्वत्र एक प्रधान साम्य में जूद है। भारतवर्ष की पगड़ियों, साफ़े, रूमाल इन सबमें जितनी विविधता है उतनी दुनिया के और किसी भी देश में न होगी। इतने पर भी भारतीय शिरोवेष्टन (सिर की पोशाक) अन्य देशों के शिरोवेष्टनों की बनिस्बत आसानी से पहचाना जा सकता है। यही बात सारे रीति-रिवाजों की है।

ऐसा होने पर भी इन रिवाजों में पीढ़ी-दरपीढ़ी फेरबदल होना स्वाभाविक है। शहरों में ऐसे परिवर्तन जल्दी-जल्दी होते हैं। परिवर्तन

की लहर गाँवों और पिछड़े हुए प्रान्तों में बहुत देर से पहुँचती है। तालाब में पत्थर फेंकने पर लहरों के बीच बने हुए बुलबुले एक-एक करके किनारे की ओर जाते हैं। यही हाल संस्कृति का है। चातुर्वर्ण्य की कल्पना पर नये-नये पुट चढ़ाकर, 'अठारह वर्ण' के नाम से प्रसिद्ध लेकिन संख्या में ढाईसौ-तीनसौ जातियाँ हमने हो जाने दी हैं। और फिर मानों यह सब बढ़कर बढ़े ठाठ के साथ दरबार में बैठना हो, इस तरह उनका 'उच्च-नीच भेद' भी निश्चित कर दिया। सारी जाति में समाविष्ट यह ऊँच-नीच भाव का तत्त्व जीवन-सूत्र नहीं बल्कि एकसाथ सबको फँसा देने का यमपाश है। लेकिन गाँववालों को यह विश्वास कराने में दम निकलने लगेगा, क्योंकि हमने उनपर इतने हथौड़े चलाये हैं कि जिससे ऊँच-नीच भाव उनकी हड्डियों में जम गया है। इन सब कीलों को वापस उखाड़ने में कुछ तकलीफ़ तो होगी ही।

कुटुम्ब अथवा जाति में छोटे-बड़े का भेद तो होता ही है। उम्र से, सम्बन्ध से, अनुभव से, अक़्ल-होशियारी अथवा सामर्थ्य से, छोटे-बड़े का भेद पड़ता ही है। लेकिन यह भेद विश्वरूप नहीं है। पहली बात तो यह है कि यह भेद प्रेमपूर्वक स्वीकार किया हुआ होता है; इसमें मतभेद नहीं होता। और दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस सम्बन्ध में जो ऊँचे होते हैं उन्हें सबका दास बनना पड़ता है। सबकी सेवा, सबके लिए अपने सुख के त्याग में किसी भी तरह की मर्यादा न होना, झगड़ा-टण्टा न होना, यही कुटुम्ब का लक्षण है। सबका कहा हुआ सह लेना, सबके आग्रह का ख़याल रखना, हृदय की उदारता से सबके दोषों को हज़म कर जाना और समाधानपूर्वक सबके चरणों की रज बनने तक शून्य होना ही कुटुम्ब में बड़प्पन

का लक्षण है। पृथ्वी को ही 'क्षमा' नाम मिला है। जो कोई पृथु या विशाल है, वह क्षमावान होगा ही। ऐसी हालत में बड़प्पन के अभिमान, अधिकार, मिज़ाज और बड़े का बड़ा हिस्सा इन बातों की गुंजायश कहाँ? कौटुम्बिक न्याय का बड़प्पन दुनिया में जिसे लेना हो वह ले, खुशी से ले। उसे कोई रोकनेवाला नहीं। [ईसामसीह ने अपने अनुयाइयों से ऐसा बड़प्पन लेने को कहा था। शायद हिन्दू-धर्म के हिस्से यह बड़प्पन आये भी। अथवा यह भी हो सकता है कि विभिन्न समाजों के बीच यह बड़प्पन क़ायम हो तबतक सभी धर्मों का हृदयैक्य होजाय।]

जहाँ ऐक्य हैं वहाँ समानता या बराबरी का कोई सवाल नहीं रहता। सिर ऊपर और पैर नीचे क्यों, यह अथवा इससे उलटा झगड़ा मनुष्यों या वृक्षों ने कभी नहीं किया। जहाँ ऐक्य करना है वहाँ अत्यन्त आग्रहपूर्वक समानता रखनी ही चाहिए। विभिन्न समाज बराबरी के सम्बन्ध से ही साथ रह सकेंगे।

हम एक उदाहरण दें। मांसाहार त्याज्य है, ऐसा माननेवाले दो जनों में से एक उसका त्याग कर सका है और दूसरे से अभी वह छोड़ा नहीं जाता; ऐसी परिस्थिति में प्रकृति-दुर्बल दूसरा व्यक्ति संस्कार-समर्थ पहले व्यक्ति को खुद ही अपनेसे श्रेष्ठ मानेगा, और पहला श्रेष्ठ व्यक्ति अपनी श्रेष्ठता को भूलकर प्रकृति-दुर्बल को अपने नज़दीक लाने में, उसकी मदद करने में, समाधान मानेगा। 'मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं पवित्र हूँ, और इसलिए साधारण लोगों को मैं अपनेसे दूर रक्खूंगा'—ऐसा कहने या माननेवाला व्यक्ति अपने विशिष्ट आचरण में चाहे जितना शुद्ध हो फिर भी वह महापापी है।

परन्तु जिसकी समझ में यह बात आई ही नहीं कि मांसाहार

त्याज्य है, जो यह समझता है कि मांसाहार में कोई बुराई नहीं है, वह अपनेको निरामिषहारी से कनिष्ट क्यों मानेगा? और निरामिषहारी को उसके साथ ऊँचाई के भाव से व्यवहार करने का हक्क भी कहांसे प्राप्त होगा? वह मन में चाहे जो माने, लेकिन बड़प्पन का रिवाज उसे न करना चाहिए। अनुभव भी यह कहता है कि इस प्रकार का बड़प्पन मनुष्य को सार्वजनिक बड़प्पन नहीं दे सकता। रूढ़ि से या वंश-परम्परा से जो निरामिषहारी है, केवल अन्नाहारी होने पर भी कहीं-कहीं उसका हृदय संकुचित, निर्दय और कपटी होने की सम्भावना रहती है। और जो रूढ़ि से मांसाहारी है और रूढ़ि की वजह से ही जिसके लिए मांसाहार को त्याज्य समझना मुश्किल हो, ऐसा मनुष्य दूसरी ओर स्नेही, उदार, स्वार्थत्यागी और विश्वासपात्र भी होसकता है। जीवन को तौलने की दृष्टि से, इस उदाहरण में भला श्रेष्ठ-कनिष्ट या अच्छा-बुरा किस तरह निश्चित किया जा सकता है?

इसीसे जीवनशास्त्रियों ने तय किया है कि तुलना करने के झगड़े में ही न पड़ना चाहिए। सभीको समान समझा जाय। सब व्यक्ति, सब जातियाँ, सब वर्ण और सब धर्म समान हैं। खासकर धर्म के बारे में आज प्रचलित धर्मों और अपने सामने आनेवाले धर्मों के अनुयाइयों पर से किसी भी धर्म की प्रतिष्ठा के बारे में निश्चय करना ठीक नहीं है। हरेक धर्म का अन्तरङ्ग उसके अनुयाइयों की बनिस्बत तो विशाल होता ही है, बल्कि उससे भी अधिक अपने धर्मग्रन्थों और शास्त्रवचनों से भी ऊंचा होता है।

हरेक हृदय में आत्मा का निवास होता है, ऐसा हम कहते हैं। परन्तु दुष्ट, दगाबाज़, कृतघ्न, हीन, द्रोही हृदयों में भी आत्मा है और

यथाकाल वहाँ आत्मा यानी धर्मबुद्धि की ही विजय होगी, इतनी श्रद्धा या आस्तिकता हम नहीं बताते। जब हमारे अन्दर यह आस्तिकता आयगी तभी हमारा आचरण अचूक धर्मानुकूल होगा।

धर्माधर्म के बारे में तो हम इतनी श्रद्धा भी नहीं बताते। सभी धर्मों में ईश्वर है, आत्मतेज है। सभी धर्म उन्नतिगामी हैं; सभी धर्मों में सत्परायणता, प्रेमपरायणता है। सभी धर्म ईश्वर को प्रिय हैं। माता को जिस प्रकार अपने सभी बालक अत्यन्त प्रिय होते हैं, उसी प्रकार ईश्वर को सभी धर्म प्रिय हैं। इस बात को आज लोग तत्त्व तक में मानने को तैयार नहीं हैं, तब भला उसके अनुसार व्यवहार करने को तो कहाँसे तैयार होंगे ?

[आस्तिकता आखिर क्या है ? जुदा-जुदा वक्त में इसके जुदे-जुदे अर्थ हुए हैं। आजकल इसका यह अर्थ होता है कि जिसका ईश्वर पर विश्वास हो वह आस्तिक है। प्राचीनकाल में यह समझा जाता था कि जो वेद का प्रमाण स्वीकार करे वह आस्तिक है। जो वेद को प्रमाण मानता है पर ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानता, वह भी इस व्याख्या के अनुसार आस्तिक ही माना जायगा—जैसे निरीश्वर-वादी सांख्य; और ईश्वर पर विश्वास रखते हुए भी जो वेद को प्रमाण नहीं मानता, वह नास्तिक माना जायगा।

इससे भी व्यापक अर्थ का विचार करें तो आस्तिक वह है जिसका पारलौकिक जीवन पर विश्वास हो, अथवा जिसकी ऐसी श्रद्धा हो कि आत्मा है और वह अमर है, सत्य-संकल्प है।

ऊपर के विवेचन में आस्तिकता का ऐसा ही पर सहज ही जुदा अर्थ लिया गया है और उसे स्पष्ट भी कर दिया गया है।

प्रस्थानत्रयी का समन्वय करने को धर्मबुद्धि की ऊँची कसौटी

माना जाता था। सर्वदर्शन समन्वय उससे आगे की सीढ़ी थी। अब वैदिक धर्म, यहूदी धर्म, पारसी धर्म, बौद्ध धर्म, चीन का धर्म, इसी प्रकार ईसाई धर्म, इस्लाम धर्म आदि सब धर्मों का समन्वय करना आज का काम है। सब धर्मों के बारे में सद्भाव और समान भाव न हो तो ऐसा समन्वय नहीं किया जा सकता। यह सद्भाव ही आज की आस्तिकता है, यही मानव्य-श्रद्धा है।]

सामाजिक रीति-रिवाज बदलने और समाज को नया रूप देने में धर्म शैथिल्य या खाली व्यवहारवाद न होना चाहिए। बल्कि नव-युग की व्यापक संस्कृति और धर्म-जीवन को मद्देनज़र रखकर ही रीति-रिवाजों में रद्दोबदल करना चाहिए। यहाँतक हमने जो विवेचन किया उसकी इसीलिए ज़रूरत थी।

जो अपने धर्म के न हों वे धर्मबाह्य हैं, ऐसी सब धर्मवालों की धारणा है। इस धारणा को मिटा देना चाहिए। ऐसा करने पर सदाचार का नया नक्शा बनाने का नया ही पैमाना हमारे हस्तगत हो जायगा।

स्त्री-पुरुष, सब जातियाँ, सब धर्म, सब पन्थ समान हैं, सभी आदरणीय हैं—यह श्रद्धा जम जाने पर यह अपने-आप समझ में आजायगा कि परस्पर व्यवहार किस तरह हो। जो अलग हैं उन्हें विभक्त न रह एक-दूसरे के साथ ओतप्रोत होने का प्रयत्न करना चाहिए, सहायता का आदान-प्रदान करना चाहिए, एक-दूसरे के उत्सव-समारोहों में भाग लेना चाहिए, जहाँ आघात पहुँचने की सम्भावना हो वहाँ सम्हाल लेना चाहिए, और इस तरह अपनेको तथा दूसरों को समृद्ध बनाना चाहिए। ऐसा करने में अपनी निष्ठा छोड़ने की ज़रूरत नहीं बल्कि उसे उदात्त बनाने की ज़रूरत होती है।

हमारे पुराने रीति-रिवाजों में ऐसी कई बातें हैं जो पुराने ज़माने के ही लिए ठीक थीं। उन्हें आज छोड़ ही देना चाहिए, या बदल देना चाहिए। छुआछूत का शास्त्र अर्थ-हीन, कृत्रिम और घातक बन गया है। उसकी जगह सफ़ाई का व्यावहारिक शास्त्र जारी करना चाहिए। मांसाहार और अन्नाहार का भेद आग्रहपूर्वक जारी रखना चाहिए। लेकिन इसके साथ ही ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जिससे मांसाहारी और शाकाहारी एक पंगत में बैठकर खा सकें। कोई किसीका जूठा न खाय, यह आग्रह भी ठीक है। भंगियों और नौकरों को, इसी प्रकार अपनी स्त्री या छोटे बच्चों को भी जूठा न खाने देना चाहिए। अन्नाहारी लोगों को चाहिए कि भोजन यदि अपने अनुकूल पद्धति से बना हो तो चाहे जिसके हाथ का होने पर भी उसे खालें। कुएँ में स्वच्छ (शुद्ध) बर्त्तन ही डालने की सावधानी रखने पर ब्राह्मण, अंत्यज, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी सभी के लिए कुएँ समानरूप से खुले रहने चाहिएँ।

स्त्रियों का जीवन बिलकुल बरबुसना होगया है। इससे वे पंगु, भीरु, प्रसंगाविधानशून्य और परावलम्बी बन गई हैं। उन्हें व्यापक सामाजिक जीवन का अनुभव कराना चाहिए। सार्वजनिक कामों में जानवरों के झुण्ड की तरह जमा होने के बजाय, उन्हें मनुष्य की तरह ज़िम्मेदारी के साथ उनमें भाग लेना चाहिएँ।

स्त्रियों के सम्बन्ध में एक सवाल बड़ा नाज़ुक है। कितनी ही जातियों में मासिक रजोदर्शन की छुआछूत नहीं मानी जाती, जब कि दूसरी कितनी ही जातियों में उसका कड़ाई से पालन होता है। अस्पृश्यता की बनिस्बत सफ़ाई पर जो विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए, वह दोनों में से एक जगह भी नहीं दिया जाता। आदर्श

सफ़ाई का अगर पालन किया जा सके और रजस्वलाओं के लिए तीन या पाँच दिन शरीर, मन तथा काम-धन्धे का विश्राम देने की सावधानी रक्खी जाय तो—और तभी—दूर बैठने से अस्पृश्यता का ढोंग बहुत कम हो सकता है। कुछ जातियाँ अगर सफ़ाई के ऊँचे आदर्श का पालन कर सकती हैं, तो आग्रहपूर्ण और सतत शिक्षा से सबके लिए वह सम्भव होना चाहिए।

हमारे बहुत-से पुराने रिवाज ख़र्चीले होते हैं। उनमें आमद-ख़र्च का मेल बैठता मालूम नहीं पड़ता। दम्भ और कृत्रिम प्रतिष्ठा का बोलबाला रहता है। लेकिन कोई भी सामाजिक रिवाज किसी भी समय सत्य से जुदा न होना चाहिए। दम्भ, कृत्रिमता, पाखण्ड, दिखावा, इन सबको ज़रा भी आश्रय न मिलना चाहिए। आलस्य, ऐदीपन और पराश्रय को जड़ से खोद डालना चाहिए।

हरेक व्यक्ति अपनी या अपने कुटुम्ब की ही फ़िक्र रखता है, इसके बदले उसे सामाजिक कल्याण की व्यापक दृष्टि को आग्रह-पूर्वक अपनाना चाहिए। सार्वजनिक हित के काम संघ-शक्ति से करने का उत्साह बढ़ाना चाहिए। ऐसे प्रयत्न सदैव होने चाहिएँ जिनसे समग्र सामाजिक जीवन की उन्नति हो, और नये-नये ऐसे रीति-रिवाज डालने चाहिएँ जिससे बारम्बार विचार व चर्चा हो और लोकमत जाग्रत रहे।

: ९ :

गाँवों की दलबन्दी

माधवाचार्य ने हाथ ऊँचा करके ठोक-बजाकर दुनिया को यह ज़ाहिर किया है कि 'सत्य भिदा', यानी 'पारस्परिक भेदभाव एक सचाई है।' रामदास स्वामी ने अपनी लाक्षणिक शैली में बताया है कि 'भेदभाव तो स्वयं ईश्वर ही कर गया है, उसे कोई नहीं मिटा सकता।' संसार में मतभेद, दृष्टिभेद, वृत्तिभेद और हितभेद रहेंगे ही। खून करने, मारने, लड़ने, बहस करने, चर्चा करने, समाधान करने, पाँव पड़ने या चुप बैठ रहने से ये भेद दूर नहीं होने के। तो फिर गाँवों में ही ये भेद कैसे मिटें? गाँव का जीवन चाहे संकुचित हो, अज्ञानमय हो, चाहे जैसा हो, फिर भी वह है सम्पूर्ण। जीवित लोगों का वह समाज है। इसलिए वहाँ ये सब विविधतायें होंगी ही। बल्कि, इससे भी आगे बढ़कर, यह कहना चाहिए कि जीवन की समृद्धि के लिए भेद आवश्यक भी है। बिलकुल मामूली संगीत के लिए भी चार-पाँच सुरों की ज़रूरत रहती है। ऊँचे दर्जे के संगीत के लिए बाईस श्रुतियों की ज़रूरत होती है। समाज-वृद्धि के साथ-साथ उसकी प्रवृत्ति भी विविध होती जायगी, और अनुभव-भेद के कारण साध्य-साधन एवं कार्य-पद्धति में मतभेद होगा ही। इसलिए प्रश्न यह नहीं है कि मतभेद को कैसे टालें, बल्कि वास्तविक प्रश्न यह है कि मतभेद के प्रति सहिष्णुता और आदर का भाव रखकर एकता कैसे बनाये रक्खी जाय? घर में एक ही रोटी हो और उसे खानेवाले बालक और उसकी माता ये दो जनें हों तो उन दोनों का भी हित-सम्बन्ध या स्वार्थ परस्पर-विरुद्ध होता है, यह निश्चित है; लेकिन इसी कारण उन दोनों

में लड़ाई नहीं होती, क्योंकि उन दोनों में रहनेवाली समझ, स्वार्थ-त्याग और प्रेम इन सबकी शक्ति अधिक बलवान है।

समाज के लड़ाई-झगड़े दूर करने के लिए भी, हमें इन्हीं गुणों को परिपुष्ट करना चाहिए। गीता ने भी यही कहा है कि विभक्त में अविभक्त को पहचानने और जहाँ क्षुद्र वासनायें हों वहाँ 'अव्यय-भाव' के महत्व की स्थापना करने में ही समाज का कल्याण हैं। मतभेद चाहे जितना हो, फिर भी उसके लिए मनुष्यता को छोड़ देने की कोई ज़रूरत नहीं है। मनुष्यता छोड़ देने से तो सभीका नुक़सान होता है, हित किसीका भी नहीं होता, यह समझ लोगों में पैदा करनी ही चाहिए; और दूसरे का अपशकुन करने के लिए अपनी नाक काटकर नकटे बनने की जो वृत्ति समाज में बढ़ गई है उसको नष्ट करना चाहिए।

यह काम सरकारी न्यायमन्दिरों में नहीं होगा। यह तो समाज के हृदय-मन्दिर में होना चाहिए। व्यक्तियों के स्वार्थ, ईर्ष्या, असूया से लेकर ठेठ द्वैताद्वैत के सनातन विवाद तक सभी जगह मनुष्यता और सौजन्य का ख़मीर पहुँचाना चाहिए।

समाज के शिष्ट, प्रतिष्ठित, धर्मनिष्ठ और कारुणिक लोगों को समाज-जीवन की रोज़मर्रा की घटनाओं में दिलचस्पी ले, तटस्थ रूप से सर्वहित की दृष्टि रखकर, लोगों को सलाह देनी चाहिए। लेकिन ऐसे काम के लिए भी उन्हें अपनी सत्ता और प्रतिष्ठा का आग्रह नहीं रखना चाहिए। सत्ता का प्रवेश हुआ नहीं कि प्रेम-सम्बन्ध का ख़ात्मा समझो, और कुछ नहीं तो वह शिथिल तो पड़ ही जायगा। वकीली वृत्ति से भी यह वातावरण पैदा किया जा सकता है; पर सामाजिक एकता और सामर्थ्य की कुञ्जी तो धर्मनिष्ठा और विशाल-हृदयता ही है।

कुछ लोग इसपर यह कहेंगे कि यह कोरा धर्मोपदेश है, व्यवहार का यह तरीक़ा नहीं है। लेकिन सैकड़ों वर्षों से हम व्यवहार के तरीक़े की आजमाइश करते आये हैं, फिर भी परिणाम की दृष्टि से वह व्यावहारिक मालूम नहीं पड़ा। अतः सच्चा व्यावहारिक तरीक़ा तो वही है जो हमने ऊपर बताया है।

हरेक गांव अथवा समाज में ग्राम-कण्टक तो होंगे ही। उनका विरोध करने से वे और उत्तेजित होते हैं और साध्य-साधन के बारे में किसी भी तरह का विधि-निषेध उन्हें गवारा न होने से, एवं सामन्य लोगों में दुष्टता, भोलेपन और लापरवाही के वश होकर बेवक़ूफ़ी करने की वृत्ति से, और बहुत बार इन सबका मिश्रण दिखाई देने से, ग्राम-कण्टकों का सोचा हुआ पूरा भी पड़ जाता है। इसलिए सच्चा उपाय उनकी युक्तियों का विरोध करना नहीं, बल्कि उनका और काम करने की उनकी पद्धति का रहस्योद्घाटन करना है।

: १० :

ग्राम-व्यवस्था

कारू, नारू, अलूते, बलूते शब्द आज बिलकुल विदेशी मालूम पड़ते हैं। लेकिन इनके मूल में हमारे पूर्वजों द्वारा निर्मित एक विशाल संस्कृति और समाज-व्यवस्था थी, यह हमें भूल न जाना चाहिए। समाज-रचना के भिन्न-भिन्न सिद्धान्त दुनिया के सामने रखनेवाले विदेशों के उत्साही तत्त्वज्ञानियों को जो इस व्यवस्था का पता लगे, तो वे चकित होकर कहेंगे कि आज की दुनिया को ऐसी ही किसी व्यवस्था की ज़रूरत है। अतः अपनी वर्ण-व्यवस्था और ग्राम-

व्यवस्था दोनों के ही वास्तविक तत्त्वों को अच्छी तरह समझकर उन्हें दुनिया के सामने रखना चाहिए। सब सुखी हों, सब मिल-जुलकर रहें, हरेक को अपने विकास का अवसर प्राप्त हो और ज्यादा-से-ज्यादा सामाजिक उन्नति हो, इस विचार से हमारे पूर्वजों ने इन अन्तःशासित संस्थाओं का निर्माण किया था। सामुदायिक ज़िम्मेदारी और समाज के श्रेष्ठ लोगों की सत्ता इन दोनों का समन्वय भी इसमें बड़ी अच्छी तरह हुआ था। सामाजिक कल्याण को 'धर्म' का नाम देकर आर्थिक व्यवस्था को उसके अंकुश में रखने से स्थिरता और प्रगति दोनों का मेल बैठा हुआ था। हमारे पूर्वजों की समाज-रचना में विधान (Constitution), राजा, परम्परा, अन्तिम सत्ता, स्वदेशाभिमान, यह सब धर्म ही था। सामाजिक सुव्यवस्था के अखिल तंत्र का नाम 'धर्म' रखकर हरेक व्यक्ति के करने योग्य सब कर्त्तव्यों को 'स्वधर्म-पालन' नाम दिया गया था। सारे संसार का क्रम सहज रीति से चल सके, इसके लिए स्वधर्म के इस प्रेरक तत्त्व को दुनिया चाहे पसन्द न करे तो भी उसे मंजूर करना ही पड़ेगा।

: ११ :

सत्ता का स्वरूप

'राजा बोले दल हाले, बुड्ढा बोले डाढ़ी हाले' यह एक पुरानी कहावत है। आदमी दूसरे के कहने से कुछ करने को तैयार होता है तो वह कहनेवाले के सामर्थ्य अथवा अपने फ़ायदे का ख़याल करके ही होता है। सत्त्वहीन की कोई नहीं सुनता। अपने मन में विश्वास होजाने पर स्वेच्छापूर्वक व्यवहार करनेवाले की यह बात नहीं है। आज्ञा का पालन इसीलिए होता है, क्योंकि आज्ञा के पीछे आज्ञा

देनेवाले की धाक और धमकी होती है, अथवा [illegible] या आज्ञापालन करने के लिए कोई प्रलोभन होता है [illegible] की पीठ पर जो चीज़ होती है उसे अंग्रेज़ी में 'सेंकशन' कहते हैं। बहुजन-समाज के लिए शरीर-दण्ड, अर्थ दण्ड अथवा प्राण-दण्ड या ऐसे ही किन्हीं दूसरे कष्टों का भय, अथवा रुपये-पैसे या सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रलोभन इन सभी का पृष्ठबल (सेंकशन) होता है। भय और प्रलोभन दोनों ही हीन वृत्तियाँ हैं। इनके सहारे लोगों को वश में रखना उच्च संस्कृति का लक्षण नहीं है। पर क़ायदे-क़ानून अथवा राजसत्ता के पास इससे उच्च 'सेंकशन' नहीं होता। इसीलिए मानवहित-चिन्तकों ने राजसत्ता को पशुबल पर आश्रित बतलाया है।

धर्मप्रधान भारतीय संस्कृति में मानव-जीवन को संस्कार के आधीन रखकर धर्मज्ञान, धार्मिक आचार, धर्मश्रद्धा और पारमार्थिक जीवनोद्देश इन सबका सामर्थ्य बढ़ाया हुआ है। इस कारण मनुष्य अन्तःप्रेरणा से आर्यवृत्ति धारण करता है, भय या लोभ से प्रेरित न हो, वासनाओं पर विजय प्राप्त कर निर्भय वीर की भाँति स्वेच्छा से शुद्धाचरण करता है। तपस्वी, पवित्र, धर्मशील पुरुष शारीरिक कष्टों से नहीं डरता, मोह से धर्मच्युत नहीं होता, ख़ुशामद के जाल में नहीं फँसता, और इसी कारण वह राजसत्ता का ग़ुलाम नहीं बनता। ऐसे लोगों की संख्या बढ़े और सामान्य जन-समुदाय उनके अनुरोधानुसार व्यवहार करने में अपना कल्याण मानने लगें, तो दुनिया में राजसत्ता की ज़रूरत ही न रहे। हाँ, व्यवस्था के लिए म्यूनिसिपैलिटी जैसी अथवा स्वेच्छा-संगठित संस्था जैसा तंत्र चलाने की ज़रूरत ज़रूर रहेगी। परन्तु वह सत्तामूलक नहीं बल्कि सेवामूलक होगा। स्वतंत्रता को मर्यादित करने का उसमें कोई सवाल नहीं रहेगा।

: १२ :

पंचायत

ग्राम-सेवा में सबसे कठिन काम पंचायत का है। कहते हैं कि मोक्ष-साधना में काम-विकार पर विजय सबसे अन्त में मिलती है। काम को पूरी तरह जीता नहीं कि मानों मोक्ष नज़दीक आगया। इसी प्रकार सच्ची पंचायत का वातावरण स्थायी और समाज़व्यापी होजाय तो उसी को स्वराज्य कहा जा सकता है। पंचायत के काम में धीरज रखने की ज़रूरत है, जल्दबाज़ी करके काम विगाड़ लेना ठीक नहीं है।

जिस प्रकार गांव में दवा-दारू करते वक़्त हम कहते हैं, अथवा हमें कहना चाहिए, कि "हम कोई विधिवत शिक्षा पाये हुए वैद्य नहीं हैं। हमें तो सिर्फ़ थोड़ा-सा अनुभव और विश्वास है कि हमारे उपाय से फ़ायदा न हो तो भी नुक़सान तो नहीं ही होगा, इसलिए थोड़ा प्रयोग करके देख लेना चाहिए। दूसरा कोई होशियार आदमी मिले तो उसके पास तुम ज़रूर जाओ। हाँ, बीमारी हमारी समझ में न आई या हमारी पहुँच के बाहर हुई तो हम पहले से ऐसा कह देंगे। तुम्हें धोखे में नहीं रक्खेंगे।" इसी प्रकार, पंचायती फ़ैसले का काम हाथ में लेने पर होशियारी से काम लेना चाहिए। जहाँ ईर्ष्या, द्वेष, लोभातिरेक, पुरानी अदावत अथवा सर्वनाश का प्रसंग मालूम पड़े वहाँ हमें खुद ही पंचायत की बात नहीं उठानी चाहिए। चार-पाँच पंच मुक़र्रर करके या बहुमत से भी पंचायत का काम नहीं होगा। पंच तो सामाजिक पुरुष होना चाहिए। वह ऐसा हो जो अपने चारित्र्य, अपनी निष्पक्ष सेवा और अपनी धर्मबुद्धि से, यानी सबके प्रति अपनी

एकसमान आन्तरिक भावना के द्वारा, 'अल अमीन'[१] बनगया हो।

पंचायत का विचार करने पर सबसे महत्त्वपूर्ण बात पहले से यह ध्यान में रखनी चाहिए कि पंचायत अदालत का ख़र्च बचाकर, अदालत में होनेवाली ढीलपोल बचाकर, अदालत का ही फ़ैसला देने की कोई सहल तरकीब नहीं है। यह ज़रूर है कि पंच सिर्फ़ यही करें और क़ानून देखकर तथा सबूत का विचार करके अदालती पद्धति से ही अदालती न्याय करें तो यह कहा जा सकेगा कि उसने उपयोगी काम किया है। क्योंकि इसमें वक़्त और ख़र्च की बचत के अलावा लोगों को ऐसे आदमी के द्वारा न्याय प्राप्त करके उसे मान लेने की आदत पड़ेगी जिसे पहले उसने ही पसन्द किया था। यह कुछ कम लाभ नहीं है; लेकिन पंचायत का ख़ास फ़ायदा यह नहीं है।

अदालत में मिलनेवाला न्याय चाहे जितना विशुद्ध हो, मगर वह मनुष्यता का—शुद्ध सामाजिक न्याय नहीं होता। अदालत का न्याय-देवता तो आँखों में पट्टी बाँधकर जानबूझकर अन्धा बनता है। लड़नेवाले दो पक्षों में अन्ततोगत्वा मेल कर देने की दृष्टि क़ानून में नहीं होती। अदालत का न्याय-देवता तो एक हाथ की तलवार से लोगों के पारस्परिक सहयोग, प्रेम-सम्बन्ध, घरेलूपन आदि की हत्या करके दूसरे हाथ की तराज़ू से सम्पत्ति के टुकड़े करके विभाजित करने का काम करता आया है। दो पक्षों के बीच की भलाई का नाश होने के बाद यहूदी शैलाक् की तरह मांस का हिस्सा बिलकुल बराबर तौलकर लेने की वृत्ति ज़ोर पकड़ेगी ही। उस वृत्ति को तृप्त करने की अपनी ज़िम्मेदारी को अदालत के न्याय-देवता ने ख़ास तौर से

१. जिसे सबका विश्वास प्राप्त हो, उसे अरबी भाषा में 'अल अमीन' कहते हैं।

'अपनी' माना है। अदालतें बहुतबार ऐसे न्याय में मनुष्यता को मद्दे-नज़र रखकर थोड़ा-बहुत हेर-फेर करती ज़रूर हैं, लेकिन ऐसा करती हैं अपना मार्ग या धर्म छोड़कर ही—न्याय के आदर्श के अनुसार नहीं।

असमानता अन्यायमूलक है। समानता न्यायमूलक होने पर भी यह होसकता है कि वह हीन वृत्ति से पैदा हुई हो। सच्ची स्थिति एकता की है। जहाँ हृदय की एकता होती है वहाँ न तो असमानता की गुंजाइश होती है और न समानता का आग्रह। इस वाक्य में भाषा की टीमटाम किये बग़ैर एक महान् जीवित तत्त्व व्यक्त किया गया है। यही तत्त्व अच्छी तरह समझकर पंच को अमल में लाना चाहिए।

धन बटोरना व्यवहार में जितना ज़रूरी है उतना ही ज़रूरी मनुष्यों का जुटाना भी है। यह बात दलबन्दी से अन्धे बने हुए मनुष्य के गले उतारना पंच का फ़र्ज़ है। दुष्टवृत्ति के अन्यायी मनुष्य का सारा जीवन अन्यायी अथवा दुष्ट नहीं होता। लेकिन अगर ऐसा हो तो भी, उसे बचाकर सुधारा जा सकता हो तो वैसा करना कोई बड़प्पन की बात नहीं बल्कि आवश्यक कर्त्तव्य है।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसका जीवन-सम्बन्ध बहुत-से लोगों के साथ बँधा हुआ होता है। अपराधी को दण्ड देने में उसके साथ सम्बन्ध रखनेवाले कितने ही ऐसे लोगों को भी संकट में पड़ना पड़ता है जो निरपराध और दया के पात्र होते हैं। सामाजिक न्याय यह कभी पसन्द नहीं करेगा। हम बहुत बार यह कहते हैं कि 'दाँत हमारे हैं और होठ भी हमारे हैं। फिर होठों को काट लेने पर क्या दाँतों का तोड़ देना ठीक होगा?' हम कहते हैं कि 'एक ने गाय की हत्या की, इसलिए दूसरा बछड़े को क्यों न मार डाले? बछड़े को मारने से वैर-बुद्धि ज़रूर तृप्त होगी, लेकिन गो-वध एक के

बजाय दो होगा। सच तो यह है कि एक क्रूरता का न्याय करने के लिए दूसरी क्रूरता करने से अन्याय मिटता नहीं, बल्कि दूना होता है। एक पड़ोसी के लड़के को मार डालने के बदले में वह पड़ोसी या उस पड़ोसी की ओर से सरकारी अदालत उसके लड़के को मार डाले, ऐसा अदालत का न्याय कोई पसन्द नहीं करेगा। पहले खून करनेवाले को फाँसी देकर उसका सारा माल-मता ज़ब्त कर लेने से हत्यारा तो हमेशा के लिए झंझट से छूट जाता है, पर उसके बालकों को हत्या से भी अधिक दुर्दशा बरदाश्त करनी पड़ती है। प्राचीन वचन है कि वृत्तिच्छेद करना शिरच्छेद से भी अधिक घातक है। किसीके अन्याय करने पर उसकी दुर्दशा करने में सन्तोष मानना समाज के लिए इष्ट नहीं है, बल्कि पंच का सामाजिक न्याय तो वह है जिससे अन्याय आगे भी जारी न रहे, पुराने अन्याय का दुष्परिणाम यथासम्भव कम हो और लोगों में प्रेम, सलाह-सूद, सहयोग एवं सामाजिक वृत्ति का विकास हो, और साथ ही हरेक को अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार अपना सिर ऊँचा करने का अवसर मिले।

समाजसेवक जल्दबाज़ी के साथ पंचायत का काम अपने सिर लेकर अदालती ढङ्ग का न्याय देने लगेगा, तो उसके निर्णय पर अमल कराना बहुत मुश्किल होगा। उसके बारे में तरह-तरह की ग़लत-फहमियाँ पैदा होंगी, ग्राम-कण्टक यानी गाँव के झगड़ालू लोग इस परिस्थिति का लाभ उठायेंगे और पंचायत का काम तो बिगड़ ही जायगा। इसके अलावा समाज-सेवा के दूसरे काम भी कठिनाई में पड़ जायँगे। अत्यन्त कलुषित वातावरण वाली जगह पहले से ही पंचायत के काम में पड़ जाने से समाज-सेवक के मन में भी पक्षा-भिमान पैदा होने की सम्भावना है। और पक्षापक्षी या दलबन्दी

गाँवों का सर्वोपरि सामाजिक दोप होने के कारण पक्षाभिमानी मनुष्य के हाथों सच्ची ग्राम-सेवा का होना ही असम्भव होजायगा। क्योंकि इसमें तो शक नहीं कि पक्षाभिमानी मनुष्य का ज़ोर और सामर्थ्य खूब बढ़ते हैं, लेकिन फिर उसके द्वारा सामाजिक कल्याण नहीं होता। और उसकी स्वराज्यवृत्ति तो नष्ट हो ही जाती है।

इसके बजाय, समाजसेवक को नम्रता के साथ आलस्य, अज्ञान, अस्वच्छता और बेकारी दूर करने एवं सामाजिक रूढ़ियों में सुधार करने का नम्र प्रयत्न जारी रखते हुए, अपनी पूरी शक्ति के साथ ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिससे लोकहृदय में आर्यवृत्ति प्रतिष्ठित हो। ऐसे प्रयास से समाज में जो प्रेमादर उत्पन्न होता है उसकी मात्रा (परिमाण) बढ़ने पर फिर थोड़े चुने हुए लोगों के मामूली झगड़ों में पंच बनकर पड़ना चाहिए; लेकिन वह भी तभी जबकि उन लोगों का ऐसा आग्रह हो।

पंच-फ़ैसले से दोनों अथवा दोनों में से एक पक्ष को तो संतोष हो ही, सो बात नहीं है। यह उद्देश्य तो मन में रखना भी सम्भव नहीं है। पंच को तो सिर्फ़ यही महत्वाकांक्षा रखनी चाहिए कि दोनों पक्षों का कल्याण हो, किसीका भी सर्वस्व-नाश न हो और तटस्थ समाज-बुद्धि को सन्तोष प्राप्त हो। पंच के काम से समाज को सन्तोष होने लगेगा तो समाज की आर्यवृत्ति व्यक्त होगी—और तब लोग पंच-पद्धति की क़द्र करने लगेंगे। ऐसी परिस्थिति हो जाने पर दुर्बल और सात्विक लोग पंचायत के प्रति अधिकाधिक प्रवृत्त होंगे। फिर ज़बरदस्त अथवा रजोगुणी लोग पंचायत का विरोध करने की हिम्मत नहीं करेंगे। लेकिन ऐसी स्थिति होजाने पर भी पंच को रजोगुणी अथवा दुर्जन लोगों के दोष दूर करने का हेतु कभी अपने

मन में नहीं रखना चाहिए। पंच को तो यही प्रयत्न करना चाहिए कि प्रत्येक हृदय में सात्त्विकता का उदय हो, और समाज एक व्यापक कुटुम्ब है इस वृत्ति का संवर्धन हो। दुर्जनों को दण्ड देना ही हो, उनका दोष दूर करना ही हो, तो उसके लिए पंचायत के बजाय समाज को कोई दूसरा रास्ता अख्तियार करना चाहिए।

: १३ :

साहूकार

जिस तरह एक समय मिशनरी लोगों ने हमारी समाज-व्यवस्था की पेटभर निन्दा करके समाज को विशृंखल करने का श्रेय कमाया था, उसी तरह एक-दो पीढ़ियों से सरकारी अधिकारी और समाज-हितैषी पाश्चात्य अर्थशास्त्री साहूकार के पीछे पड़े हैं। मिशनरियों की टीका-टिप्पणियों से विशृंखल हुआ समाज जाग्रत होकर जिस प्रकार फिर से सशक्त और सुदृढ़ होने लगा है, उसी प्रकार साहूकार की संस्था भी अपने महाजनी के दोष दूर करके नये जोश और नई पद्धति से समाज-सेवा करने और उस सेवा से समाज का नेतृत्व ग्रहण करने के योग्य होजाय तो नई बात न होगी। राज्य न रहने पर जिस तरह उसकी पुरानी सेना बेकार होकर समाज के लिए भार-रूप बन जाती है, अथवा नई संस्कृति की नई संस्था में राज्याश्रय के ज़ोर पर प्रतिष्ठित होजाने से जिस प्रकार पुरानी संस्कृति की पुरानी संस्थायें सूखकर या सड़कर समाज के लिए घातक बनती हैं, वही हाल साहूकार-रूपी संस्था का हुआ है।

प्राचीनकाल में साहूकार ब्याज पर लोगों को रुपये देनेवाला कोरा

दूकानदार ही नहीं था। साहूकार के पास पूँजी रहती, लोगों को उस पूँजी की ज़रूरत होती, और वह ब्याज लेकर वह रक़म उन्हें देता, यह सच है; लेकिन आज का साहूकार जैसा नीतिहीन कङ्गाल वन गया है, ऐसा पुराना साहूकार न था। साहूकार का मतलब तो है गाँव का नेता जिसपर गाँव की नीतिमत्ता क़ायम रखने की ज़िम्मेदारी है। कठिनाई के वक्त वह लोगों को रुपया उधार तो देता ही था, पर साथ ही उन्हें सलाह भी देता था। यह ठीक है कि वह व्याज कसके लेता था, लेकिन इतना व्याज खाकर वह पश्चिमी शराफ़ों जैसा लखपति कभी नहीं हुआ। व्याज तो वह चाहे जितना लेता, लेकिन उसका यह काम—या चाहें तो कह सकते हैं कि आदर्श था—कि अपने गाँव का कोई भी व्यक्ति बिगड़ या नष्ट न होजाय। इतने पर भी उसका सारा क़र्ज़ वसूल होजाता हो सो बात तो नहीं ही थी। परन्तु डूबे हुए आसामियों की वजह से जो घटी होती उसकी कसर वह व्याज की भारी दरों से निकाल लेता था।

साहूकार और रैयत (आसामी) दोनों एक ही समाज के होने के कारण, और दोनों का अन्योन्याश्रय स्वभावसिद्ध होने के कारण, रैयत को अनेक प्रकार साहूकार का सहारा रहता था। साहूकार प्रजा-भक्षक न होकर बाप की तरह प्रजा-रक्षक था। कोई अनाचार होजाय तो सबके सामने उसको सुनकर ठीक-ठाक करने का काम साहूकार का रहता था। ग़रीब के घर की विवाह-सम्बन्धी कठिनाइयों, घर-गृहस्थी के लड़ाई-झगड़ों, बीमारी अथवा ऐसी ही दूसरी कठिनाइयों में लोगों को साहूकार का सहारा रहता; सार्वजनिक कार्यों का नेतृत्व भी वही करता; और ग़रीब-ग़ुरबों की छोटी-मोटी पूँजी रखने का स्थान भी साहूकार ही था। साहूकार किसी को ब्याज पर

रुपया देने से मना कर देता, तो उस आसामी की साख ही नहीं मारी जाती बल्कि सामाजिक नीति की दृष्टि से भी वह अयोग्य माना जाता। जिस प्रकार किसी रोगी के यहाँ अपना बिल रुका पड़ा हो तो उसकी वजह से सच्चा डाक्टर उसका इलाज करने से इन्कार नहीं करता, उसी प्रकार किसी आसामी की आर्थिक स्थिति शंकास्पद मालूम होने के ही कारण सच्चा साहूकार उसे क़र्ज़ देने से इन्कार नहीं करता था। साहूकार किसीको ब्याज पर रुपया देना तो तभी बन्द करता जबकि उसे यह विश्वास होजाता कि इस आदमी की व्यवहार-बुद्धि भ्रष्ट होगई है या वह ईमानदार नहीं रहा है, अथवा किसी दुर्व्यसन में पड़ गया है। मतलब यह कि क़र्ज़ न मिलना सामाजिक अपमान माना जाता था।

ऊपर साहूकार की जो कल्पना की गई है, वह केवल आदर्श नहीं है। एक अत्यन्त प्राचीन काल में ऐसी समाज-सेवा करनेवाले साहूकार जगह-जगह मौजूद थे। साहूकार शब्द के अर्थ में ही यह आदर्श विद्यमान है। साहूकार समाज का आवश्यक और महत्वपूर्ण अंग होने के कारण कोई उसकी उपेक्षा नहीं करता था। यह ज़रूर है कि इस आदर्श को क़ायम रखना हरेक साहूकार की अपनी धर्म-बुद्धि पर ही अवलम्बित था। साहूकार रुपया कमाने में ही लगा रहे अथवा लोगों को निचोड़कर अपने घर पर सोने के खपरैल चढ़ावे तो उसे रोकने का साधन कोई भी न था। उसकी धर्म-बुद्धि, कुल-परम्परा की आकांक्षा, सामाजिक प्रतिष्ठा और समाज की स्थूल न्याय-बुद्धि के पुण्य प्रकोप की दहशत—बस, यही साहूकार के ऊपर अंकुश थे। फलतः साहूकार की सेवा बराबर चली जाती थी।

आधुनिक सरकार ने सामाजिक पुण्य-प्रकोप को धार भोंटी

कर दी है। क़ानून की अदालतों ने सामाजिक ज़िम्मेदारी के बारे में अन्धापन इख़्तियार किया है, और आधुनिक साहूकार के नग्न स्वार्थ को राजमान्यता प्रदान की है। इसके बाद यह शोर मचाकर कि साहूकार का मतलब है प्रजा के पीछे भूत की तरह लिपट जानेवाला, उसकी लोकप्रियता बिलकुल नष्ट करदी है। एक ओर तो साहूकार को बिगड़ने का उत्तेजन देना और दूसरी ओर युक्तियों से ऐसा लोकमत तैयार करना कि सारा साहूकार-वर्ग ही प्रजा-द्रोही है, आज तो कुछ इस तरह का आश्चर्यकारक खेल चल रहा है।

साहूकार को ख़त्म कर उसकी जगह सोसायटी स्थापित करके गाँववालों का सारा आर्थिक व्यवहार सरकारी देखरेख में लाना, रुपया क़र्ज़ देने में उदारता रखनी पर इस व्यवहार में से मनुष्यता का सम्बन्ध निकाल देना, और गाँव के आर्थिक जीवन को शहर के आर्थिक जीवन से बाँध देना, ऐसी सब नीति चल रही है।

इस सारे खेल में दया खाली क़र्ज़दार बननेवाली ग़रीब रैयत पर ही नहीं आती, बल्कि अपनी आँखों पर ख़ुद ही पट्टी बाँधकर अपनी ही मूर्खता से बिगड़ते और नष्ट होते जाते हुए साहूकारवर्ग पर भी आती है।

सामाजिक नीतिमत्ता दिन-पर-दिन कम होती जारही है, और गाँवों में कमाई के साधन घटकर ख़र्च बढ़ता जा रहा है; इससे साहू-कारी के धन्धे में भी अब बरकत नहीं रही। गाँवों के उद्योग-धन्धे नष्ट होजाने से क़र्ज़ ली हुई रक़म आमदनी बढ़ाने के काम नहीं आती, और किसानों को दी हुई रक़म वसूल होना मुश्किल होगया है। इसलिए समझदार कुशल साहूकारों ने अपना धन्धा कम करके शहर का रास्ता लिया है। जो क्षेत्र साहूकारों ने यह समझकर छोड़ दिये

हैं कि यहां अब साहूकारी में कोई दम नहीं रहा, उनमें से किसी-किसी जगह काबुली यानी डण्डे के ज़ोर पर रुपया वसूल करनेवाले अन्य क्रूर लोग साहूकार बनकर घुसे हैं और प्रजा का और भी ज़्यादा-से-ज़्यादा बुरा हाल होरहा है।

प्राचीन काल के स्मृतिरम्य चित्रों की सराहना करना एक बात है और प्राचीन काल का पुनरुद्धार करने का प्रयत्न करना दूसरी। यह बात हर्गिज़ न भूलनी चाहिए कि जो ज़माना गया वह लौटकर नहीं आता। प्रचीन समाज-व्यवस्था अथवा उसमें की प्राचीन संस्थायें फिर से जारी नहीं होसकतीं, ऐसा सम्भव हो तो भी नये ज़माने में प्राचीन बातें कार्यसाधक नहीं होंगी; और हों तो भी पुरानी बातों को फिर से जिन्दा क्यों किया जाय ? नई पीढ़ी की भी तो अपनी कोई जीवन-प्रतिमा होगी कि नहीं ?

प्राचीन व्यवस्था में जीवन-पोषक जो तत्त्व हों उन्हें परखकर नये स्वरूप में अमल में लाना चाहिए।

व्यक्ति में जिस प्रकार टेक होती है, चारित्र्य होता है, जीवन कृतार्थ करने का समय प्राप्त होने पर सर्वस्व त्याग करने का पराक्रम करने की धर्म-बुद्धि होती है, उसी तरह संस्थाओं में भी टेक, चारित्र्य और धर्मबुद्धि होती है। समाज की सर्वांगीण उन्नति करने-वाले ये तत्त्व प्रकट करने का युग अब आया है। जिन लोगों का जीवन परस्पर ओतप्रोत है, अथवा ओतप्रोत होसकता है, उन्हें अपने संघ बनाकर उन संघों के द्वारा साहूकारी करनी चाहिए, और उसमें केवल आर्थिक व्यवहार ही नहीं बल्कि जीवन-व्यवहार के सभी सिद्धान्तों का समावेश करना चाहिए। ऐसे संघों पर सरकारी हुकूमत या अंकुश नहीं ही होना चाहिए, चाहे सरकार स्वदेशी ही

क्यों न हो। अगर हुकूमत हो तो वह समाज के घटकों की होनी चाहिए, और वह भी निस्सन्देह बहुमत द्वारा निश्चित न होकर ऐसे चारित्र्यशील व्यक्तियों की होनी चाहिए जिनकी समाज में प्रतिष्ठा हो। वंशपरम्परागत राजाओं के दोषों को जिस प्रकार समाज बरदाश्त करता है, उसी प्रकार इन नेताओं के दोषों को बरदाश्त करके भी समाज को अपनी व्यवस्था स्थिर करनी चाहिए। लेकिन इस बात की सावधानता रखना आवश्यक है कि ऐसी व्यवस्था में कहीं वंश-परम्परा का तत्व न घुस जाय।

ऐसे संघों में पुराने ढंग के, समाज-हित की प्रवृत्ति रखनेवाले, साहूकारों को प्रथमस्थान मिलना चाहिए। ऐसा करने पर सरकारी सोसायटियों के तत्त्व और परम्परागत साहूकारों के अच्छे तत्वों का सम्मिलन होगा।

चाहिए तो यह कि महासभा (कांग्रेस) जैसी कोई मध्यवर्त्ती संस्था चरित्रवान और ग्राम-सेवा में दिलचस्पी रखनेवाले तरुणों को थोड़ी-थोड़ी पूँजी और नियम बनाकर गांववालों में साहूकारी करने के लिए भेज दे और इस बात का ध्यान रक्खे कि साहूकारी पूँजी से गाँवों के नये-पुराने धन्धों को किस प्रकार फिर से जीवित किया जाय। आलस्य, अव्यवस्था, अप्रामाणिकता और पक्षपात इन चार बातों से बचा जाय तो साहूकारी के द्वारा बहुत-कुछ ग्रामोद्धार होसकता है।

: १४ :

कर्ज़ा

हिन्दुस्तान में बड़े-बड़े कारखाने, भारी पूँजी, सैकड़ों मील की सामूहिक खेती और बढ़ता हुआ विदेशी व्यापार, यह सब वातावरण चलने दिया जाय या नहीं, इस बात का एकबार हमेशा के लिए हमें निश्चय कर लेना होगा। हिन्दुस्तान एक संस्कारवान, सुघरा हुआ और संगठित राष्ट्र है। वह अगर इंग्लैण्ड, अमेरिका, जर्मनी या जापान का अनुकरण करने का निश्चय करे तो आवश्यक समय के अन्दर सहज ही ऐसा कर सकता है। रूस जब दस साल में असाधारण परिवर्त्तन कर सका और इतने में ही उपर्युक्त परिपक्व और समर्थ राष्ट्रों को अपना भयंकर प्रतिस्पर्धी प्रतीत होने लगा, तो हिन्दुस्तान में ऐसी ही प्रगति इससे भी थोड़े वर्षों में करके बता देना असम्भव नहीं है। लेकिन सोचना यह है, कि हिन्दुस्तान को यह मार्ग स्वीकार भी करना चाहिए या नहीं ?

मनुष्य-समाज का आर्थिक संगठन उसके जीवन-सिद्धान्त पर अवलम्बित है। जर्मनी, इंग्लैण्ड या रूस का अनुकरण करना हो तो उनके जीवन का तत्त्वज्ञान स्वीकार करना चाहिए। फिर समाज-रचना भी उनके ढंग पर अपनेआप होजायगी। चूँकि जैसी अर्थ-नीति हो वैसी ही धर्म-नीति होजाती है; इसलिए दूसरे देशों का अनुकरण करने का मतलब तो यह होता है, कि हिन्दुस्तान अपनी भारतीयता छोड़ दे। क्या हम इसके लिए तैयार हैं ?

भारतीयता यदि कोई अलौकिक चीज़ न हो तो हमें उसको चाहे जब छोड़ देने के लिए तैयार रहना चाहिए। क्योंकि केवल अपने-

पन और प्राचीनता का जीवन की दृष्टि से कोई मूल्य नहीं है। परन्तु यदि भारतीय जीवन-दृष्टि कल्याण की हो, जगत् की मनुष्यता का नाश करनेवाले स्वभाव-दोषों को दूर करने की यदि भारतीयता में शक्ति हो, तो अनुकरण का मार्ग कभी स्वीकार नहीं करना चाहिए। दूसरे हमें खा जायँ या हमें दूसरों के पीछे-पीछे चलना पड़े—चाहे जिस तरह हो, पर अनुकरण एक तरह से मरण ही है। दूसरे देशों के बाज़ारों पर क़ब्ज़ा करके देश-देशान्तर का धन हिन्दुस्तान में ले आने की और पिछड़े हुए देशों में अकाल, बेकारी तथा परतन्त्रता भेजने की हमारे अन्दर दुर्बुद्धि न हो तो हमें 'यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः' इस अद्रोही तत्त्व पर ही अपनी समाज-नीति और अर्थ-नीति की रचना करनी चाहिए। प्रकृति की शक्तियों, पूँजी और सामाजिक सत्ता इन सबका भारी केन्द्रीयकरण करने का मतलब सामाजिक जीवन में साम्राज्यवाद खड़ा करना है, फिर वह साम्राज्य चाहे आमेरिकन पद्धति का हो या रूस के ढंग का। सम्पत्ति की वजह से ही ग़रीबी पैदा हुई है, अर्थशास्त्र का यह सूक्ष्म तत्त्व रूस के गले उतरने पर भी न उतरने जैसा ही रहा है। इसमें से यदि रास्ता निकालना हो, तो हिन्दुस्तान की ग्राम-संस्कृति का ख़याल रखकर हमें अपनी अर्थ-नीति का निश्चय करना चाहिए। प्रजा का संगठन राजनैतिक आधार के बजाय सांस्कृतिक आधार पर करना चाहिए। तभी व्यक्ति-स्वातंत्र्य क़ायम रहकर मनुष्य का आत्म-गौरव रह सकेगा।

इतनी बात अगर हमारी समझ में आगई, तो गाँवों के आर्थिक जीवन की कल्पना हमें स्पष्ट रूप से होजायगी।

छोटे-छोटे और बड़े कुटुम्ब अपने-अपने खेत जोतकर सुखपूर्वक

रहें, फ़ुर्सत के वक्त छोटे-बड़े समाजोपयोगी धन्धे, सब तरह के हुनर-उद्योग सब जगह छोटे पैमाने पर जगह-जगह चल रहे हों और सार्वजनिक हित के बड़े काम छोटे-छोटे घटक समझदारी के साथ एकत्र होकर बड़े पैमाने पर पूरे करें—ऐसा समाज का स्वरूप हो, तो वह हमें इष्ट है। हरेक के पास खेती के लिए थोड़ी-बहुत ज़मीन हो, हुनर-उद्योग करने के लिए हथियार और औज़ार हों, ठीक तरह खपत हो और सालभर का काम आसानी से चल सके इतनी हरेक के पास पूँजी हो, यह हमारा आदर्श है। ऐसी हालत में किसीको क़र्ज़ करने की नौबत न आनी चाहिए। प्रसंग-विशेष पर और अधिक रक़म की ज़रूरत हो भी तो समाज के व्यवसायी लोगों के पास से रुपया बिना व्याज के उधार मिलना चाहिए।

परन्तु यह स्थिति बहुत प्रयत्न करने पर ही प्राप्त होसकती है। तबतक तो व्याज पर क़र्ज़ लेने की ही ज़रूरत रहेगी।

कर्ज़ दो तरह के होते हैं। एक तो वे जो खेती, व्यापार, हुनर-उद्योग, दलाली अथवा सामाजिक हित के बड़े-बड़े कामों के लिए किये जाते हैं; और दूसरे वे जो बीमारी के ख़र्च, लड़को के ब्याह में दान-दहेज देने, अदालत में मुक़दमेबाज़ी करने, फ़ाक़ेकशी दूर करने अथवा अपने व्यसनों को पूर्ति के लिए लिये जाते हैं। इनमें, मनुष्य बुद्धिमानी से चले तो, पहली क़िस्म के क़र्ज़ का कोई बहुत बोझ नहीं होता। बल्कि पूँजी बढ़ने से, चाहे थोड़े रूप में ही क्यों न हो, ऐसे क़र्ज़ों से मनुष्य की सामर्थ्य बढ़ती है। इसके विपरीत दूसरी क़िस्म के क़र्ज़े तो जीवन की कठिनाइयाँ अपरिहार्य हैं ऐसा समझकर ही किये जाते हैं।

इन दोनों ही क़िस्मों के क़र्ज़ों के कारण व्याज पर क़र्ज़ देनेवाला

क़र्ज़ लेनेवाले के जीवन पर अपना क़ब्ज़ा कर लेता है। क़र्ज़ लेने-वाला जितना छोटा, दुबल या अज्ञान हो उतना ही वह क़र्ज़ देनेवाले के क़र्ज़ में पड़कर उसका बिलकुल ग़ुलाम बन जाता है। क़र्ज़ की सब शर्तें न्यायपूर्ण हों या शोषण करनेवाली हों, इनका अर्थ और अमल तो कर्ज़ देनेवाले मालदार की इच्छानुसार ही तय होता है। यही नहीं बल्कि तय हुई शर्तों के अलावा भी देनदार को लेनदार से दबना पड़ता है। देनदार की दुःस्थिति का सब तरह से लाभ उठाकर लेनदार न्याय ही नहीं बल्कि परोपकार करने का भी ढोंग करता है। और देनदार को इस सबके आगे सिर झुकाना पड़ता है। इसीसे यह कहावत प्रचलित हुई है कि "ग़रज़मन्द को अक़ल नहीं होती।"

उद्योग-व्यवस्था के लिए किये जानेवाले क़र्ज़ में क़र्ज़ देनेवाला सावधान न हो तो उद्योग-व्यवसाय करने से होनेवाले लाभ में से मक्खन-मक्खन तो सब क़र्ज़ देनेवाले के पास जाकर उसके अपने हिस्से ख़ाली छाछ का पानी रह जायगा। जिस तरह लोग ढोर पालते हैं, ग़ुलाम रखते हैं, शहद की मक्खियाँ पालते हैं और उनकी मेहनत का सारा फ़ायदा उठाते हैं, उसी तरह पूँजीपति पूँजी का उपयोग करके उसमें से दूध और शहद पैदा करनेवाले देनदारों को पालते हैं।

और फिर अगर क़र्ज़ द्रव्य-वृद्धि के बजाय संकट-निवारण के लिए किया हो, तब तो पूछना ही क्या! वह क़र्ज़ तो बिलकुल ग़ुलाम-गीरी ही है।

इसीलिए गाँववालों को क़र्ज़ न लेने का निश्चय करना चाहिए। क़र्ज़ करने से किफ़ायतशारी मिट जाती है, किसी बात का अन्दाज नहीं रहता और बिलकुल अन्धेरगर्दी होजाती है। अगर क़र्ज़ करना

पड़े तो इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कम-से-कम ब्याज पर अपनी सुविधानुसार शर्तों के अनुसार रुपया मिले। क़र्ज़ की क़िस्तों और उन्हें चुकाने का समय अपनी सुविधा के अनुसार ही तय करना चाहिए। क़र्ज़ में डूब न मरना हो तो क़र्ज़दार को अपना हिसाब आरसी की तरह बिलकुल साफ़ रखना चाहिए। बहुत बार सालभर के ख़र्च का ठीक अन्दाज़ न कर रखने के ही कारण क़र्ज़ करना पड़ता है। ग़रीब-ग़ुरबों को सालभर के ख़र्च का अन्दाज़ लगाना मुश्किल होता है। अतः उन्हें अपने विश्वास के समझदार और चारित्र्यवान लोगों के साथ मिलकर आर्थिक संघ खड़े करने और संघ-रूप में ही आय-व्यय के वार्षिक अनुमान बनाने चाहिएँ। व्यक्ति को क़र्ज़ की ज़रूरत हो तो स्वतंत्र रूप से क़र्ज़ न ले संघ की मार्फ़त लेना चाहिए। ऐसा करने से देनदार को ज़मानत मिलती है और लेनदार यानी क़र्ज़ करनेवाले को आसानी से क़र्ज़ मिलने के अलावा उसका उपयोग और हिसाब करने के बारे में उसके संघ द्वारा बहुमूल्य सलाह मिलती है। संघ की देखभाल और उसके अंकुश का उपयोग व्यक्तिगत जीवन को सुसंगठित और जड़मूल से शुद्ध करने में ख़ूब होता है। और क़र्ज़ से होनेवाली ग़ुलामी तो इसी तरह दूर की जा सकती है। अतः क़र्ज़ करना ही हो तो उसका शास्त्र बनाकर शास्त्रीय तरीक़े से करना चाहिए। यह संघ-जीवन में ही सम्भव है, इसीलिए संघ का निर्णय ख़ूब सोच-विचारकर करना चाहिए।

ऐसे संघ का उद्देश्य आर्थिक हो तो भी वह संघ जीवन-संघ है, यह बात न भुला देनी चाहिए। जाति या धर्म के तत्त्व पर ऐसे संघों की स्थापना न की जाय। बल्कि जिनमें परस्पर मित्रता का सम्बन्ध हो, प्रेम का अपनापन हो, रुपये-पैसे के व्यवहार में एक-दूसरे पर

पूरा विश्वास हो, और परस्पर व्यवहार में सलाह-मशविरा करने की आदत हो, ऐसे लोगों का ही संघ बनाया जाय। संघ में किसी नये आदमी को लेना हो तो पुरानों के भारी बहुमत से ही लेने की पद्धति रक्खी जाय। संचालकों के अभिप्राय को हमेशा महत्व देना चाहिए। यह ज़रूर है कि प्रधान संचालकों का चुनाव करते वक्त उनकी चालाकी का ख़याल रखकर नहीं बल्कि उनके समाजहितैपिता, निस्पृहता और व्यवहारपटुता के गुण देखकर ही उनका चुनाव करना चाहिए।

जिस प्रकार हम इंजन चलानेवाले ड्राइवर और गाड के भरोसे सारी गाड़ी सौंपकर रात को अपने-अपने डिब्बे में सो जाते हैं, उस प्रकार भरोसा करके नहीं बल्कि आलस्यवश संघ के लोग सञ्चालकों पर ही सारा काम छोड़कर सो जाते हैं। ऐसी हालत में संघ का मूल उद्देश्य ही नष्ट होजाता है। क्योंकि संघ का उद्देश्य तो यह है कि उसमें शामिल होनेवाले हरेक आदमी को इस बात की उत्तम शिक्षा और तालीम मिले कि दुनिया में अच्छी तरह कैसे ज़िन्दा रहा जाय और स्वार्थ, परार्थ तथा परमार्थ किस तरह सम्पादन करें। इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए सबको संघ-कार्य में ध्यान देना चाहिए। हरेक के जीवन में अलग-अलग हस्तक्षेप न कर जितना ध्यान दिया जा सके उतना ध्यान देने की कला अत्यन्त उपयोगी जीवन-कला है। इस कला के ज़ोर पर ही समाज समर्थ बनता है। ऐसे सामर्थ्य का सम्पादन करने के बाद क़र्ज़ का ही नहीं, बल्कि सभी व्यवहार सुव्यवस्थित्त होजायगा।

लेकिन यह सब तो आगे की बात हुई। सवाल यह है कि आज गाँवों में जो सिर से पैर तक क़र्ज़-ही-क़र्ज़ छा गया है उसका

क्या किया जाय ? आज की स्थिति स्वाभाविक नहीं, बल्कि एक सामाजिक महारोग की निशानी है। जो वस्तु समाजव्यापी है वह स्वाभाविक ही होती है, और हमेशा ऐसी ही रहती है, यह मानना जड़ता का लक्षण है।

इस महारोग का इलाज भी ऊपर बताये हुए संघों में ही है। संघ जैसे-जैसे विशाल और समर्थ होगा उसी अनुसार उस गांव के लेन-देन की सारी जानकारी एकत्र करके उसकी जांच करने की शक्ति प्राप्त करेगा। किसीकी रक़म डूबना जितना अनुचित है उतना ही यह बात भी अनुचित है कि क़र्ज़ में समाज और उसका पुरुषार्थ ही डूब जाय। इस बात को मद्देनज़र रखकर समदृष्टि से समाज के क़र्ज़ की छानबीन करनी चाहिए; और वह भी अदालती न्याय की रीति से नहीं बल्कि सामाजिक न्याय की रीति से। सभी पक्षों की रक्षा करते हुए आज की गुत्थी को सुलझाना चाहिए। असाधारण परिस्थिति के लिए उपाय भी असाधारण ही होंगे। साहूकार और संघ बीच में पड़कर किसी विशिष्ट रीति से किसान की कुछ आवश्यकताओं का बोझ उठा लें और बाक़ी का क़र्ज़ चुकाने के लिए किसानों की मदद करें, इसके बिना किसान का पार नहीं पड़ सकता है। एक बार ऐसा हो जाने पर फिर पहले जैसी भूल न हो इसके लिए कोई व्यवस्था करनी पड़ेगी। केवल क़ानून को सख्त करके या व्यावहारिक रूप में पग-पग पर अनुमतियां लेने की कठिनाइयां खड़ी करने से यह काम नहीं होगा। संघों को ही सामूहिक ज़िम्मेदारी ग्रहण करके व्यक्ति को मज़बूत करना चाहिए।

आज के साहूकार-वर्ग को परिस्थिति का यथार्थ ज्ञान हो ऐसी ज़ोरदार शिक्षा देने की ज़रूरत है। क्योंकि आज जो स्थिति है वह

ऐसी नहीं जो हमेशा चल सके। जिस प्रकार रात को सोकर यानी एक तरह से मरकर दूसरे दिन हम नई ज़िन्दगी के साथ उठते हैं, उसी प्रकार साहूकारों को आज के अंक पर परदा डालकर और उसके लिए जो-कुछ किया जा सके वह उपाय करके शुरुआत में बताये हुए नये अंक का प्रारम्भ करना चाहिए। इस नई रचना को जमाने में संघ बड़े सहायक होंगे।

जीवन ही निःसत्त्व होजायगा तो फिर क़ानून और संघ, धर्म या नेता, किसीसे भी गाड़ी फिर से चालू नहीं होगी। अतः गाँवों के उद्योग-धन्धों को फिर से चालू करना चाहिए। इसमें भी नई दिशा और नई भावनाओं की ज़रूरत है। उद्योग-धन्धों और सामाजिक पुरुषार्थ की वृद्धि हो तो रोज़मर्रा का जीवन अपने-आप शुद्ध और जानदार बनेगा। उद्योगी राष्ट्रों के विचारशील लोग इसी बात का विचार करते रहते हैं कि अपनी ज़रूरत का माल अच्छी तरह किस प्रकार तैयार करें। देश में बाहर से आनेवाला माल दरअसल कहाँ तैयार होता है, कैसे बनता है, उसका रूपान्तर कौन किस तरह करता है, माल को लाता-लेजाता कौन है, और उस माल के लिए दी हुई क़ीमत में किस-किस को कितना नफ़ा मिलता है, इन सब बातों का वे पता लगाते हैं। इसी प्रकार इस बात का भी पता लगाते हैं कि देश से बाहर जानेवाला माल कौन किस लिए कहाँ लेजाता है, उसका रूपान्तर कैसा और किस तरह होता है, वह किस काम आता है, और अन्त में कहाँ पहुँचता है। साथ ही इस बात की भी जानकारी प्राप्त करते हैं कि इस सब व्यवहार में कितना नफ़ा अपने हिस्से रहना चाहिए, या कितने नफ़े के हम मालिक हैं। गुजरात का एक किसान हर साल हज़ारों रुपयों के फल पैदा करता

है। यही नहीं बल्कि कराची, लाहौर, दिल्ली, मद्रास आदि दूर-दूर की यात्रा करके वहाँ के ग्राहकों को माल पहुँचने तक का सारा मुनाफ़ा अपने को ही मिले इसकी फ़िराक में रहता है। उसके बूढ़े बाप को जब यह बताया गया कि हिन्दुस्तान की डाक हवाई ज़हाज़ से विलायत जाती है, तो तुरन्त वह बोल उठा, "तो फिर हमारे चीकू, आम और बेर विलायत क्यों न भेजे जायँ? मेरे फल मौसम शुरू होने से पहले ही आजाते हैं और कितने ही दरख़्त मौसम ख़त्म होने के बाद भी फलते हैं, इसलिए उनके ज़रूर अच्छे दाम उठेंगे।"

सारी दुनिया का व्यापार करने का लोभ मन में न रखते हुए, हमारे किसान अगर इस बूढ़े की तरह जागरूक और सूझवाले बनजायं तो हिन्दुस्तान की ग़रीबी दूर होजाय। क्योंकि जागरूक और कार्यकुशल किसान का लिया हुआ क़र्ज़ उसे डुबोता नहीं, उलटे तैरने के तूंबे या बूच की जाकेट की तरह पार निकल जाने में सहायक ही होता है।

: १५ :

मुक़दमेबाज़ी

हिन्दुस्तान में डंका बजा जानेवाले किसी गोरे सेनापति के जीवन-चरित्र में पढ़ी हुई यह बात मुझे याद है कि वह अपनी फ़ौज के साथ बंगाल में प्रवास कर रहा था तब एक गांव के लोगों को उसने अपने घर-बार की सब चीज़ों को साथ लेकर भागते हुए देखा। लोगों को ठहराकर उसने पूछा, "तुमपर ऐसी क्या मुसीबत आ पड़ी है जो गांव छोड़कर जा रहे हो? हमारे पास इतनी बड़ी फ़ौज है, इससे हम सहज में तुम्हारी रक्षा कर सकते हैं।" इसपर लोगों ने जवाब

दिया, "ऐसा ही कोई दुश्मन होता तो हमने तुमसे ज़रूर संरक्षण माँगा होता। लेकिन हम जो गाँव छोड़कर जा रहे हैं, उसकी तो कुछ और ही वजह है। बात यह है कि हमारे यहाँ ब्रिटिश अदालत क़ायम होनेवाली है, ऐसा हमने सुना है; इसलिए हम देश छोड़कर भागे जा रहे हैं।" यह अनुभव लिखते हुए उस गोरे सेनापति को क्या लगा होगा? ब्रिटिश लोगों को अपने न्याय के बारे में बड़ा अभिमान है। सत्रहवीं सदी की शुरुआत में मद्रास की तरफ़ के एक संस्कृत कवि ने अँग्रेज़ों की न्यायप्रियता का मुक्तकण्ठ से वर्णन किया है। इतने पर भी लोग अदालतों से क्यों चौंकते हैं?

अंग्रेज़ी न्याय चाहे जितना सम्पूर्ण हो, फिर भी आमतौर पर वह बहुत ख़र्चीला है। उसमें सरलता नहीं है, बल्कि उसकी पूँछ लम्बी ही होती चली जाती है। और फिर अदालत में जानेवाले लोगों की नीतिमत्ता बढ़ती हो ऐसा तो अनुभव से मालूम नहीं पड़ता। इसलिए स्थूल न्याय से अपना व्यवहार चलानेवाली पञ्च-प्रमुख प्रजा उससे डरे यह स्वाभाविक ही है। अंग्रेज़ी न्यायालयों में क़ानून के तत्त्व की जो छानबीन होती है, वह सचमुच सराहनीय है; लेकिन उसके मूल में जिस तरह के सामाजिक स्वभाव की कल्पना निहित है वैसा हम लोगों का स्वभाव नहीं है। यह संस्कृति-भेद का सवाल है। हमारा जीवन ज़्यादा सामाजिक है। छोटे-छोटे केन्द्रों में भले ही हों, पर हम लोग परस्परावलम्बन के साथ रहते हैं, और जिस समाज के व्यवहार का झगड़ा हो उसी समाज के समझदार और दोनों पक्षों को जाननेवाले पंच के द्वारा न्याय प्राप्त करने की हमें पहले से आदत पड़ी हुई है। इस न्याय से एक हाथ में तराजू लेकर बैठे हुए और आँखों में पट्टी बाँधकर दूसरे हाथ से खुली तलवार बतानेवाले

न्याय-देवता को सन्तुष्ट करने का ख़याल नहीं होता, वल्कि आपस का व्यवहार सरलता से होता है, सामाजिक वन्धन क़ायम रहते हैं और ऐसी सरल वालवोध-दृष्टि रहती है जिससे लुच्चे-लफ़ंगों को अपराध करने का उत्तेजन नहीं मिलता। प्रेम और सहयोग को भुला देनेवाली न्यायतुला को हम लोगों ने स्वीकार नहीं किया है—यह उनकी और हमारी संस्कृति का वड़ा भारी भेद है।

जिस प्रकार छोटे व्यापारियों को व्याज़ पर रक़म उधार देकर साहूकार उनके धन्धे में का वहुत-कुछ लाभ खुद खींच लेता है, उसी प्रकार अदालतें और उनमें वैठे हुए वकील मुक़दमेवाज़ों को न्याय प्राप्त कराते-कराते विलकुल चूस डालते हैं। इस न्याय का विधि-विधान इतना लम्बा होता है कि एक वार अदालत के चक्कर में आ जाने पर आदमी को अपने रोज़मर्रा के काम-काज पर ध्यान देना लग-भग असम्भव ही हो जाता है। गाँववालों का तो हिरती-फिरती अदालतों के साथ यहाँ से वहाँ जाते-आते नाक में दम आजाता है, और वीमारी में अच्छे डाक्टर का पाना जिस प्रकार मालदार के ही भाग्य में होता है उसी प्रकार अच्छा वकील पाना भी उसीकी क़िस्मत में होता है जिसके पास उसे देने के लिए लम्वी थैली हो।

धर्म-प्रचारक मिशनरी लोग जिस प्रकार अपने धर्म की प्रतिष्ठा वढ़ाने के वास्ते ग़रीव-ग़ुरवों के लिए विलकुल मुफ़्त दवा-दारू की व्यवस्था वहुत वार अपने हृदय की आन्तरिक भावना से करते हैं, उसी प्रकार हमारे देश के पुष्कल धर्मनिष्ठ क़ानूनदाओं को मिशनरी वनकर लोगों को न्याय दिलाना चाहिए; और उसके साथ-साथ उन्हें न्याय यानी क़ानून की शिक्षा भी देनी चाहिए। सच्चा डाक्टर जिस तरह रोगी को दवा देकर ही नहीं रह जाता वल्कि रोग के कारण

समझाकर यह बताता है कि रोग से बचने के लिए क्या-क्या करना चाहिए, उसी प्रकार सच्चे क़ानूनदाँ (वकील) को चाहिए कि वह समाज को, क़ानून की धाराओं से बचने के वास्ते उलटे-सुलटे दाँव किस तरह खेलने चाहिएँ और किसी भी पक्ष को चाहे जो रंग कैसे दिया जा सकता है यह सिखाने के बजाय, अपना व्यवहार अच्छा रखने की शिक्षा दे। विद्या-दान जिस प्रकार नफ़ा कमाने का धन्धा नहीं बनना चाहिए, क्योंकि वह समाज-सेवा का एक पवित्र भाग है, उसी प्रकार व्यवहार में बुद्धि-दान अथवा न्याय-दान भी संकट में पड़े हुए गरज़मन्द लोगों से पैसे ऐंठने का साधन न बनकर समाज का कलयण-साधन करनेवाली एक तपस्या ही होना चाहिए।

इतिहास-संशोधन के मामले में जिस प्रकार शुरुआत तो पश्चिमी लोगों ने की, लेकिन अब इस देश के विद्वानों ने यहाँ की संस्कृति को यथार्थ रूप में समझकर इस बारे में स्वदेशी आधार बनाया है, उसी प्रकार चिकित्सा और न्याय-विभाग इन दोनों विषयों में पूर्व-परम्परा को समझकर और समाज की नब्ज़ टटोलकर स्वदेशी पद्धति जारी करनी चाहिए। आज के वकील-डाक्टर तो केवल अनुसरण करनेवाले शिष्य हैं। ये लोग चाहें तो इन दोनों क्षेत्रों में सारा आधार बदल देना बिलकुल असम्भव नहीं है। परन्तु इसके लिए असाधारण स्वार्थत्याग की ज़रूरत है। लेकिन अगर देवता ही कर्म-काण्डी यज्ञों के आडम्बर का विरोध करने लगें, तो उनका ऐश-आराम कैसे चले?

बहुत बार ऐसा होता है कि प्रचलित स्थिति के बारे में जिन्हें असन्तोष होता है और जिनकी समझ में उसके दोष अच्छी तरह

आजाते हैं, साथ ही नई रचना कैसे की जाय इसकी भी जिन्हें थोड़ी-बहुत कल्पना होती है, उनमें उसको बदलकर नई जारी करने जितना बुद्धि-सामर्थ्य नहीं होता, इतना साहस नहीं होता। ऐसे लोगों में परस्पर सूक्ष्म मतभेद होने के कारण उनका संगठन भी नहीं हो सकता, जबकि प्रचलित पद्धति संगठित, जमी हुई और प्रतिष्ठित होती है। ऐसी परिस्थिति में सुधारकों की पुकार सच होने पर भी उसका कोई फल नहीं होता। और ऐसे लोगों के दुर्बल विरोध से जमी हुई पद्धति को धक्का लगने के बदले, उलटे, वह और मज़बूत बनती है। शिक्षा, चिकित्सा और न्याय इन तीनों क्षेत्रों में यही हुआ है।

मनुष्य अगर बिलकुल लालची न बनकर सज्जनों के साथ ही व्यवहार रखने का निश्चय करे, तो उसे दोनों ओर के हिताहित और दोनों पक्षों के स्वार्थ का ख़याल रखने की आदत पड़ेगी। इतने पर भी मतभेद रहे तो तटस्थ पंच के द्वारा उसे दूर करना बहुत मुश्किल नहीं है। लेकिन मनुष्य लोभ का शिकार होता है; और दोनों पक्ष अपने-अपने स्वार्थ के लिए तनातनी करें, ऐसा नियम बन जाता है। पिछली एक-दो पीढ़ियों से हम यह कहते आये हैं कि अदालत की जगह पंचायत की स्थापना करनी चाहिए। लेकिन बिल्ली के गले में घण्टी अभी बंधी नहीं है। सच पूछो तो पंचायत की स्थापना के लिए समाज का व्यवहार ख़ासतौर पर शुद्ध-से-शुद्ध होना चाहिए, और इसके लिए उसका मर्यादित होना भी आवश्यक है। शहर के व्यापारी वातावरण के लिए यह कुछ मुश्किल होगा, लेकिन गांवों में व्यवहार साफ़-सीधा होने के कारण और परस्पर का सम्बन्ध केवल इक़रार-बाज़ी के बजाय जीवन का होने के कारण वहां ये सुधार आसानी से

हो सकते हैं। झगड़े अदालत में लेजाये ही न जायें, ऐसा अगर कोई व्रत ले बैठे तब तो उसे जल्द पछताना पड़ेगा। क्योंकि अपनी रक़म डुबोकर समाज का सुधार करने का दूरन्देश स्वार्थ बहुत थोड़े लोगों में होता है। परन्तु साधारणतः अदालत जाना पड़े ऐसे रास्ते ही न चला जाय, ऐसा व्रत लिया जा सकता है। और गाँवों के लिए यही एकमात्र रास्ता है।

अदालत में सच को झूठ करने के सिवा और कुछ नहीं होता, ऐसा सभी कहते हैं। लेकिन अगर कोई दृढ़ता के साथ और आँख खोलकर सच-सच बात ही अदालत में कहे, तो सच्चा न्याय करने की अदालत की जो ज़िम्मेदारी है वह अदालत को खुद-बखुद महसूस होने लगेगी। इसलिए जितना टाला जा सके उतने समय त्यागपूर्वक सहन कर लेना चाहिए। आसमानी (ईश्वरी कोप के) और सुलतानी (राजा की जबरदस्ती के) कारणों से होनेवाले नुक़सान को हम जिस प्रकार चुपचाप बरदाश्त कर लेते हैं और उसका ख़याल रखकर ही सब काम करते हैं, उसी प्रकार रूहानी कारणों से आई हुई मुसीबत को बरदाश्त करने के लिए हम क्यों न तैयार हों? आसमानी सुलतानी होने पर भी जो व्यवहार नष्ट नहीं हुआ, वह रूहानी कारण स्वीकार करने से नष्ट हो ही जायगा, ऐसा मानने की क्या कोई वजह है? वकील हो या समाज का अगुआ (नेता) हो, कोई भी समाज के सामने ऐसी बात पेश नहीं करता। शिक्षक अथवा प्रोफ़ेसर जिस प्रकार निश्चित तनख़्वाह लेकर काम करते हैं, उसी प्रकार वकील भी निश्चित तनख़्वाह पर काम करें ऐसी पद्धति शुरू होनी चाहिए। और अपील-पर-अपील होने की रीति कम कर देनी चाहिए।

यह सब तो जब होना होगा तभी होगा। आज तो गाँवों के

हरेक व्यक्ति को अपने व्यवहार में सुधार करके अदालतों से दूर रहने की ही कोशिश करनी चाहिए। ऐसा होने पर फिर गाँव छोड़कर जाने का मौक़ा नहीं आयगा।

: १६ :

व्यसन

शराब से अफ़ीम भयानक है, शरारती की बनिस्बत ऐदीपना ख़राब है, घोड़ा दौड़ाने के बजाय डोली-पालकी का शौक़ बुरा है, यह बात अगर लोगों की समझ में आजाय तो हमारे लिए व्यसनों की मीमांसा करना आसान होगा। रजोगुण बहुत व्याकुल करता है जबकि तमोगुण 'न किसी के लेने में और न देने में' ऐसा शान्त पड़ा रहता है, इसलिए ऐसा भासित होना स्वाभाविक ही है कि वह सतो-गुण के अधिक नज़दीक है। लेकिन तमोगुण तो हर तरह, चारों तरफ़ से, घातक है; अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों को डुबोनेवाला है। इतना समझ में आजाय तो व्यसन में भी लोग दायें-बायें का निश्चय कर सकते हैं।

व्यसन कोई भी हों, वे बुरे तो हैं ही; लेकिन कुछ व्यसनों में दिमाग़ लड़ाना पड़ता है, हिकमतें करनी पड़ती हैं और विविध प्रकार की कलाओं को जानना होता है, इसके विपरीत कुछ व्यसन ऐसे हैं कि उनसे मनुष्य अपनी सारी शक्ति और मनुष्यता को भूल जाता है। ये दूसरे प्रकार के व्यसन अगर समाज में फैलें तो समाज की ख़ैर नहीं; क्योंकि इस स्थिति को ज़िन्दा ही मौत समझना चाहिए।

हमें इनमें से अपने गाँवों के ख़ास व्यसनों पर विचार करना चाहिए। शराब, अफ़ीम, गाँजा आदि व्यसनों का विचार करने से पहले कुछ भी काम-धन्धा न कर व्यर्थ की गप्पें हाँकते रहना और पीठ पीछे लोगों की निन्दा करने में चाहे जितना वक़्त ख़राब करना इन सबसे बड़े व्यसनों पर विचार करना चाहिए। वाहियात गप्पों से मनुष्य का पुरुषार्थ जितना क्षीण होता है, उतना शायद विषय-वासना से भी न होता होगा। 'वाक्पात वीर्यपात से भी ज़्यादा कमज़ोरी लाता है' यह कह-कहकर थक जानेवालों के बारे में आरोग्यशास्त्र में कहा है कि 'वाक्पातो वीर्यपातात् गरीयान्'। आध्यात्मिक रूप में भी यह बात सच है। गाँवों का यह व्यसन दूर करने के लिए गाँवों के नौजवानों में एक ज़बरदस्त आन्दोलन करना चाहिए। सामाजिक संस्कृति क़ायम रखने के लिए टीकाशास्त्र बहुत ज़रूरी है, ऐसा कहा जाता है, और यह बात बहुत-कुछ ठीक भी है; लेकिन व्यर्थ की गप्पें और पीठ पीछे निन्दा करना सामजिक उन्नति का शास्त्र नहीं है। इससे तो समाज दिनोंदिन नीचे गिरता जाता है। बड़े सवेरे उठकर सुबह का कलेऊ करके खेत पहुँच जाना किसान का भूषण माना जाता था। रात को चाहे जितना जागना पड़े तो भी सच्चे किसान को उठना तो तड़के ही पड़ता था। इसके बजाय, अब देर से उठना सभ्यता का लक्षण समझा जाने लगा है। कलेऊ की जगह जहाँ चाय का प्रचार हुआ है वहाँ आधा सवेरा तो लगभग व्यर्थ ही चला जाता है। यह भी एक व्यसन है, यही बात अभी लोगों के ध्यान में नहीं आई है।

हमारे पूर्वजों ने सैकड़ों पीढ़ियों के कठोर आग्रह से स्वच्छता और शुचिर्भूतपन (पवित्रता) की आदतें समाज में दृढ़ की थीं। वे

भी अब ढीली पड़ती जा रही है, इस बात पर हमारा अभी पूरा ध्यान नहीं गया है। आहार-शुद्धि, शरीर-शुद्धि, वस्त्र-शुद्धि और वाणी की शुद्धि ये चार संस्कृति की आधारभूत बातें हैं। कपड़े शायद आज के लोग पहलों की बनिस्बत ज़्यादा साफ़-सुथरे रखते होंगे, लेकिन बाक़ी बातों में तो शिथिलता ही बढ़ती जा रही है।

पहले के लोग तो कपड़ों का इस्तेमाल ही बहुत कम करते थे। बाहर जाते वक़्त पहनने के कपड़े, यहाँतक कि धोती भी, अलग ही रखते थे, और उन्हें सावधानी के साथ तह करके रक्खा जाता था। हमारे देश में कपड़े कम पहननेवालों को क्षय और चर्मरोग बहुत कम होते हैं, यह वैद्यकीय अनुभव है। कपड़ों का फ़ैशन बढ़ाकर हमने ख़र्च बढ़ाया, राजरोग बढ़ाये, अस्वच्छता का एक साधन बढ़ाया, और गाँवों में कपड़े नहीं बनते इसलिए ग़रीबी बढ़ाने का एक साधन भी बढ़ा लिया। यह भी एक सवाल ही है, कि फ़ालतू-फ़ालतू कपड़े बढ़ाने को व्यसन क्यों न कहा जाय?

कितने ही व्यसन तो इतने रूढ़ और दृढ़मूल होगये हैं कि उनके ख़िलाफ़ लोगों की धर्म-बुद्धि ही मन्द पड़ गई है। अश्लील शब्द चाहे जब और चाहे जैसे बोलना, हरेक को गन्दी गालियाँ देना, और स्त्रियों अथवा बालक-बालिकाओं के सामने भी बिना किसी शर्म के गन्दी बातें करना गाँववालों को कुछ अखरता ही नहीं। यह दोष ऐसा तो नहीं ही है जो सारी दुनिया में फैला हुआ होने के कारण दूर न किया जा सकता हो।

और मानों अश्लील शब्दों का भण्डार ख़ाली न हो जाय, इस्ते-माल न होने से कहीं वे मिट न जायँ, इस भय से होली-जैसे त्यौहार की रूढ़ि चला रक्खी है। दरअसल होली का त्यौहार ग़ुलामगीरी

का ही द्योतक है। अतः इसका रूप बदलकर इसकी पूरी-पूरी शुद्धि कर डालनी चाहिए।

समाज को अन्दर-ही-अन्दर कुतर खानेवाला बड़ा व्यसन विवाह के नीति-सम्बन्ध को भ्रष्ट करने का है। एक समय वेश्या-गमन हमारे देश में अमर्यादरूप से फैला हुआ था। अब तो वह बहुत कम होगया है, ऐसा कहसकते हैं। लेकिन व्यभिचार के बारे में ऐसा कहा जा सकता है या नहीं, यह कहना मुश्किल है। यह कल्पना करना तो मुश्किल है कि नौजवानों में अपनेको नामर्द करने का व्यसन पहले कितना था, लेकिन आज तो शहरों और गाँवों में यह व्यसन बहुत फैला हुआ है। स्कूल के मास्टर और अखाड़े के उस्ताद कभी-कभी इस व्यसन को रोकने की कोशिश करते हैं। परन्तु अक्सर रक्षा के लिए बनाई हुई मेंड ही नाश का कारण होती है। इस विषय में माँ-बाप की लापरवाही समझ में न आसकनेवाली और अक्षम्य है। फ़ैशन की नज़ाकत बढ़ने से शरीर को पुष्ट करने की तरफ़ कम ध्यान दिया जाता है। बढ़ते हुए शरीर की जवानी में निर्दोष और पौष्टिक आहार मिलना चाहिए, और इतनी कसरत और मेहनत की जानी चाहिए जिससे शरीर का सारा वीर्य पसीना-पसीना होजाय। इसके बजाय हुआ यह है कि जीभ को चटोरी बनाने-वाले बिलकुल निःसत्त्व आहार, कपड़ों और बालों के ठाठ, तथा समय से पहले बुढ़ापा लानेवाले बैठने के ढंगों की ही वृद्धि हुई है। पहले गाँवों के नौजवानों में दलबन्दियों के कारण परस्पर मार-पिटाइयाँ हुआ करती थीं। आज मार-पिटाइयाँ तो कम होगई हैं, पर दलबन्दी कम नहीं हुई।

तम्बाकू का व्यसन बढ़ता जा रहा है, यह कहना चाहिए। इस

व्यसन से दाँत विगड़ते हैं, गले की बीमारियाँ पदा होती हैं, फेफड़ों के रोग स्थायी हो जाते हैं, और टॉल्सटाय का कहना तो यह भी है कि सदूसदूविवेक-वुद्धि और चरित्र की दृढ़ता को नष्ट करने की शक्ति तम्वाकू में शराव से भी ज़्यादा है। उन्होंने मिसाल दी है कि एक आदमी को खून करने की हिम्मत नहीं होती थी, इसलिए पहले तो उसने शराव की वोतलें चढ़ाईं; परन्तु अन्तरात्मा की यह आवाज़ फिर भी वन्द न हुई कि खून निन्दनीय कर्म है, वह हमसे नहीं हो सकता। अन्त में उसने चुरट का आश्रय लिया। तव मात्र न्याय, धर्म और दया की भावना ख़त्म होकर वह 'मर्द' वन गया और सोचा हुआ नीच कृत्य उसने पूरा कर डाला।

तम्वाकू की खेती करने में क्या वुराई है, यह किसान को शायद ही मालूम पड़ता हो। शासकों ने जिस चीज़ को फ़ैशनेवल ठहराया है उसका विरोध करने की लोग हिम्मत ही नहीं करते। फिर तम्वाकू तो मुग़लों के वक़्त से ही राज्यमान्य वन वैठा है। जिन्हें पेट भरकर खाना नहीं मिलता, अधभूखे उठनेवाले वच्चों के दयनीय मुँह जिन्हें रोज़ नहीं तो साल में पांच-सात महीने तो देखने ही पड़ते हैं उन्हें भी तम्वाकू पर रोज़ पैसा ख़र्चते हुए देखकर जितना दुःख उतना ही आश्चर्य भी होता है। हिन्दुस्तान में हर साल कितने रुपयों का तम्वाकू काम में लाया जाता है, यह हरेक को हिसाव लगाकर ध्यान में रखना चाहिए।

अफ़ीम, गांजा, शराव, कोकेन आदि तो व्यसनों के राजा ही ठहरे। इनका साम्राज्य इतना विस्तृत है कि उसे भंग करने के लिए वड़े-वड़े धर्मनिष्ट लोगों का एक वड़ा समुदाय ही पैदा होना चाहिए। मनुष्य अफ़ीम को खाता है या अफ़ीम मनुष्य को खाती है, यह

कहना मुश्किल है। राजपूत, गरासिये (भील), ज़मींदार आदि लोगों में अफ़ीम का व्यसन फैलने से देश का एक बड़ा कार्यकुशलवर्ग बिलकुल निःसत्त्व और महत्वाकांक्षा-हीन होगया है। अतः समस्त सामाजिक शक्तियों का ज़ोर इन व्यसनों को दूर करने में लगाना चाहिए। कपट और हिंसा को छोड़कर बाक़ी सभी उपायों से शराब, अफ़ीम आदि व्यसनों की जहां सम्भव हो वहींसे जड़ उखाड़ देनी चाहिए।

शराब से स्वास्थ्य, धन-सम्पत्ति, इज़्ज़त-आबरू और नैतिकता सभीका नाश होता है। सच पूछो तो समाज का समाजत्व नष्ट करने की ही शराब की प्रवृत्ति है। आश्चर्य तो इस बात पर होता है कि इस बात का अच्छी तरह अनुभव कर लेने पर भी दुनिया के लोग शराबख़ोरी बन्द करने को प्रवृत्त क्यों नहीं होते! हिन्दुस्तान में से इस व्यसन को जड़-मूल से दूर करना अन्य देशों की बनिस्बत बहुत आसान है। ज़रूरत केवल प्रयत्न की है।

घुड़दौड़ तथा उसमें होनेवाले जुए के व्यसनों से यूरेशियन (ऐंग्लोइण्डियन) लोग बिलकुल कंगाल हो गये हैं। साधारण जुआ भी जगह-जगह होता है। कहीं-कहीं तो जन्माष्टमी के शुभ दिन जुए की शुरुआत अथवा भर्ती होती है। जुआ हमारे देश का बहुत पुराना व्यसन है। इसे नष्ट करने के लिए कठोर उपाय ही इख़्तियार करने चाहिएँ।

: १७ :

फ़िज़ूलख़र्ची और बर्बादी

बेहदख़र्च या फ़िज़ूलख़र्ची सचमुच दोष-रूप है या नहीं, इस बात पर आज कई राष्ट्र विचार कर रहे हैं। लेकिन उनकी बात छोड़कर हम अपने ही ग़रीब देश का विचार करेंगे। देश में अपने आसपास के लोग भूखों मरते हों, तब अपने पास साधन होने के कारण ही फ़िज़ूलख़र्च होना वस्तुतः समाज-द्रोह ही है। लेकिन हमारे यहाँ कितने ही रीति-रिवाज ऐसे हैं, जिनके कारण इच्छा न होने पर भी फ़िज़ूलख़र्ची करनी पड़ती है, यह और भी दुःख की बात है। इसका बिलकुल प्राथमिक स्वरूप पुराने ढंग के कुटुम्बों में प्रचलित यह धार्मिक मान्यता है कि घर के लोगों की ज़रूरत से ज़्यादा खाना पकाना चाहिए। घी-जैसी खाने की चीज़ को दीया सुलगाने या जलाने में बरतना भी धर्म के नाम पर ही होसकता है। इसमें फ़िज़ूलख़र्ची तो है ही, लेकिन उसके अलावा यह और बुराई है कि एक तो हवा बिगड़ती है और दूसरे जिस बछड़े के मुँह में से हम दूध निकाल लेते हैं उसका द्रोह होता है। उत्सवों के समय दरवाज़े में जबतक कीचड़ न होजाय तबतक बराबर दूध के घड़े डालते रहने का हमारे यहाँ रिवाज था, ऐसा हम पढ़ते हैं। यह भी ऐसा ही एक दूसरा दोष है। सच तो यह है कि फ़िज़ूलख़र्ची अपना बड़प्पन दिखाने का एक असंस्कृत उपाय है। लेकिन अज्ञान से उत्पन्न फ़िज़ूलख़र्ची इससे जुदी चीज़ है। खेती के उपयोगी क़ीमती गोबर को उपले बनाकर ईंधन के रूप में हम काम में लाते हैं, यह फ़िज़ूलख़र्ची अज्ञानमूलक है।

सारे साल मेहनत करने के बाद घर में फ़सल आती है, तब

किसान की आँखें चढ़ जाती हैं। वह ख़ुशी में फूलकर बादशाह बन जाता है, और आगे-पीछे का ख़याल न कर चार दिन जितना हो सके उतनी फ़िज़ूलख़र्ची करता है। क्योंकि न तो उसे हिसाब करना आता है, न आगे-पीछे का ही कोई अन्दाज़ होता है। इसी प्रकार घर की स्त्रियाँ भी बर्तन-भाण्डे अथवा चमकदार चीज़ें बिकती हुई देख-कर उन्हें लेने के लिए घर के अन्न अथवा पुराने कपड़े सहज ही में दे देती हैं। मूल में अन्दाज़ का न होना ही इस फ़िज़ूलख़र्ची का मुख्य कारण है। साथ ही गौणरूप से हाथ में पैसे न होना और व्यवस्थित रूप से ख़र्च करने की छूट न होना भी इसके आंशिक कारण हैं।

नौकरी प्राप्त करते वक्त, विवाह तय करते समय, किसीके वसीले या सिफारिश से काम कराना हो तब अथवा बड़े-बड़े ठेके लेने हों उस वक्त हम अपनेको उससे ज्यादा बड़ा दिखाने की कोशिश करते हैं जितने बड़े कि वास्तव में हम होते हैं। क़र्ज़ करते वक्त भी ऐसा ही करना पड़ता है, और उससे बेहद फ़िज़ूलख़र्ची होती है। लोभ में पड़ा हुआ मनुष्य आगे-पीछे फ़ायदा होने के ख़याल से तुरन्त ख़र्च करके छूट जाता है, लेकिन बहुत बार उसे बाद में पछताना पड़ता है। ख़ातिर-दारी, प्रेम और समाज-सेवा का तत्त्व भी घमण्ड और बड़प्पन का साधन होगया है।

ये सब फ़िज़ूलख़र्चियाँ स्पष्ट मालूम पड़ने पर भी कोई इनका निषेध नहीं करता। उलटे समाज में कोई उड़ाऊ या फ़िज़ूलखर्ची हो तो दूसरों को बहती गंगा में हाथ धोने का मौक़ा मिलता है। ऐसी हालत में समाज जानते-बूझते हुए भी स्पष्ट बोलने की इच्छा ही नहीं रखता। लेकिन जब फ़िज़ूलख़र्ची का रिवाज होजाता है, तब एक की

स्पर्धा में दूसरे को भी ख़र्च करना पड़ता है और फिर लोग बड़बड़ाते हैं।

दरअसल चाहिए तो यह कि लोग इस बात को समझें कि फ़िज़ूलख़र्ची जैसे सृष्टि-रचना के विरुद्ध अपराध है वैसे ही समाज के विरुद्ध भी अपराध है, और दूसरों को भी समझा-बुझाकर रास्ते पर लायें। फ़िज़ूलख़र्च लोगों की दाता, दानवीर, बुद्धिमान, रसिक, आस्थावान, मनुष्य-प्रेमी आदि चिकने-चुपड़े विशेषण लगाकर ख़ुशामद न करते हुए, समाजधुरीणों को डंके की चोट उन्हें यह सुनाना चाहिए कि ऐसी फ़िज़ूलख़र्ची या बड़प्पन में कोई प्रतिष्ठा नहीं है। द्रव्य सामाजिक वस्तु है, उसके दुरुपयोग से समाज की चहुँमुखी हानि होती है—यह जानकर समाज को धन की फ़िज़ूलख़र्ची रोकनी चाहिए। उत्सव, यात्रा, विवाह, यज्ञोपवीत आदि सार्वजनिक समारोहों पर भी अकारण होनेवाले ख़र्च और दावतों में होनेवाली अन्न की बर्बादी ये सब संस्कार-हीनता के लक्षण हैं, ऐसा लोकमत हमेशा तैयार करते रहना चाहिए। बीमारी के वक़्त घबराकर प्रेमातिरेक में अन्धाधुन्ध ख़र्च करना भी संस्कार-हीनता, भीरुता बल्कि नास्तिकता है, यह विचार भी लोगों के सामने रखना चाहिए; और जिनके लिए ऐसा ख़र्च होता है उन्हें इसके लिए अपनी शर्मिन्दगी तथा असहमति प्रकट करनी चाहिए। क्योंकि किसी भी रूप में क्यों न हो, फ़िज़ूलख़र्ची वस्तुतः अधार्मिक ही है।

: १८ :

ग़रीबी

हिन्दुस्तान की आर्थिक स्थिति दिन-पर-दिन बिगड़ती जा रही है, इस निर्विवाद प्रश्न पर भी एक प्रतिपक्ष पैदा हुआ है। लेकिन हिन्दुस्तान के गाँव दिनोंदिन ज़्यादा-से-ज़्यादा कंगाल होते जाते हैं इस वारे में कहीं भी दो मत नहीं हैं। इस ग़रीवी के अनेक कारण हैं। उन सवकी चर्चा न कर सिर्फ़ उन्हीं करणों पर हम यहाँ विचार करेंगे जिन्हें आज किसान ख़ुद ही दूर कर सकते हैं।

एक वात तो स्पष्ट है कि लोगों का ख़र्च दिनोंदिन वढ़ता जाता है। ज़रूरी चीज़ों का महँगापन और अनावश्यक चीज़ों का चस्का, यह ख़र्च वढ़ने के दो कारण हैं। जहाँ नहीं चाहिए वहाँ ख़र्च, ज़मींन का महसूल और क़र्ज़ का बोझ भी ख़र्च वढ़ाने के कारण हैं। ख़र्च के अनुसार पदावार भी वढ़ती जाय तव तो ख़र्च का वोझ नहीं मालूम पड़ता। इसके विरुद्ध ख़र्च जितना हो उतना ही रहे और फ़सल कम हो तो पहले का स्वाभाविक ख़र्च आज अस्वाभाविक लगता है और अधिकाधिक खटकता है। हमारे किसानों की कठिनाई तो दुहेरी है; यानी ख़र्च वढ़ा है और पैदावार में कमी हुई है। जो खेती नहीं करते ऐसे कारीगर, मज़दूर अथवा आश्रित धन्धे करनेवाले दूसरे लोग अभीतक गाँवों में ही बसे हुए हैं। उनकी हालत तो उनसे भी बुरी है। क्योंकि किसान की फ़सल कम होने पर भी कभी-कभी तो वह उसे वढ़ा भी सकता है, और उसे महँगाई का लाभ भी मिलता है। लेकिन वाक़ी उद्योग-धन्धे तो बिलकुल ही मर गये हैं। क्योंकि जीवनोपयोगी छोटी-बड़ी सभी चीज़ें शहरों से या विदेशों से

आने लगी हैं, साथ ही लोगों की अभिरुचि बदल जाने की वजह से भी गाँवों के बहुत-से धन्धे नष्ट होने लगे हैं।

ग़रीबी की एक दूसरी ख़ास वजह हमारे उद्योग-धन्धों तथा घर-गृहस्थी की आलसी पद्धति है। इससे बाहर का पुरुषार्थ और पराक्रम तो कम होता है, लेकिन आपस में अकारण झगड़े होते हैं और अपनी नालायकी का ग़ुस्सा अन्दर-ही-अन्दर एक-दूसरे पर उतरता है। यह अनुभव सार्वत्रिक है। पराक्रम अधिक होने पर लोग अलग-अलग रहें तो भी कोई बात नहीं; लेकिन ऐसे ही समय लोग आसानी से एकत्र रह सकते हैं। इसके विपरीत, जब स्थिति बिगड़ती है तब पुष्कल लोगों को एकत्र होकर अन्धपंगुन्याय से एक-दूसरे के सहारे रहना अत्यावश्यक होजाता है। ऐसे ही समय जीवन-संघर्ष असह्य होजाता है और बात-बात में झगड़े होने लगते हैं।

हम लोगों का जीवन बहुत-कुछ महाराष्ट्र के देशस्थ ब्राह्मणों के जीवन-जैसा है। फ़सल चाहे जितनी कम होने पर भी हमें ख़र्च कम करने की बात नहीं सूझती; न यही बात कुटुम्ब के बहुत-से लोगों को सूझती है कि ख़र्च में कमी नहीं ही होसके तो सब जी-तोड़ मेहनत करके पैदावार को बढ़ा लें। साहूकारों को चाहिए कि वे अपने आसामियों की रक्षा करके उनकी शक्ति बढ़ायें और इस तरह पैदावार की वृद्धि पर ज़्यादा मुनाफ़ा लेने की महत्त्वाकांक्षा रक्खें; लेकिन ऐसा न कर वे आसामियों को बिलकुल चूसकर नफ़ा कमाने की नीयत से उन्हें ख़त्म ही कर डालते हैं। महाभारत में जो कहा है कि प्रजा के साथ व्यवहार में माली की तरह नफ़ा प्राप्त करो, कोयले बेचनेवाले की तरह नहीं, वह बात आज लोग बिलकुल ही भूल

गये हैं। कमानेवाले को हमेशा प्रोत्साहन और मनुष्य-बल की अपेक्षा रहती है। बाहर से कमाकर घर में लाई हुई सम्पत्ति की ढंग से व्यवस्था और कद्र करनेवाला कोई घर में हो तो उसे कमाई की दूनी उम्मीद रहती है। सौ फ़ीसदी सहयोग करनेवाले स्वार्थपरायण और कार्य-साधक लोगों का संघ बढ़े तो वह संघ-सामर्थ्य लगभग अजेय बन जाता है। परन्तु हमारे समाज में कोई एक भी उत्साह से काम करना शुरू करे तो दूसरे को वह नहीं सुहाता, या उसपर आलस्य छा जाता है। आगे जानेवाले का पैर तोड़ देना, तैरनेवाले के गले में पत्थर बनकर पड़ जाना, कोई कर्त्ता दिखाई दे तो आश्रितों द्वारा उसके चारों तरफ़ काई की तरह जमकर अपने क्षुद्र स्वार्थ-साधन का प्रयत्न करना, ऐसा अनुभव और कहीं नहीं तो गाँवों में तो होता ही है। गाँवों की इस स्थिति से परेशान होकर वहाँकी महत्वाकांक्षा साधन-सम्पत्ति के साथ शहर की ओर मुख़ातिब होती है, यह सार्वत्रिक अनुभव है; लेकिन उसका पृथक्करण अभी हुआ नहीं है।

गाँवों में प्राचीन सामाजिक संस्कृति सड़-गलकर भी अभीतक मौजूद है। उस संस्कृति में जीवन और ज़िम्मेदारी की जैसी अपेक्षा व्यक्तियों की ओर से रक्खी जाती है उससे मुक्त रहना सम्भव नहीं है। प्राचीन संस्कृति का यह आग्रह क्षीणवीर्य समाज में भार-रूप होजाता है। शहरवालों ने तो प्राचीन संस्कृति को बिलकुल त्याग दिया है। शहर में आदमी लाज-शर्म को छोड़कर अपना उत्तरदायित्व-हीन स्वार्थ-साधन कर सकता है। शहरों में सामाजिक संगठन बहुत शिथिल होगया है, जिससे व्यक्ति को व्यक्तिगत प्रगति करना बहुत आसान होता है। जिस प्रकार कि राज्य नष्ट होने पर थोड़े समय के लिए राज्य के सरदारों का ज़ोर बढ़ जाता है, परन्तु अन्त में संघ-

सामर्थ्य के अभाव में सभीका नाश होजाता है, उसी प्रकार सामाजिक बन्धन तोड़ डालने से शुरू-शुरू में तो व्यक्तियों की खूब प्रगति होती है, परन्तु उच्च पोषण के अभाव में अन्त में उसमें रुकावट पड़ जाती है। शहर और गाँव के इस संस्कृति-भेद को हमें अपने ध्यान में रखना चाहिए। क्योंकि ग्रामोद्धार की दिशा निश्चित करने में इसका बड़ा महत्व है।

और नहीं तो हिन्दू-समाज में तो शहर गाँवों पर ही जीते हैं, यह कहने में कोई हर्ज नहीं है। लेकिन यह उपजीविका माली के जैसी नहीं बल्कि कोयले बेचनेवाले की-सी है। गाँवों का कच्चा माल, गाँवों की कार्यकुशलता और साधन-सम्पत्ति शहर में पहुँचती है। दूसरी ओर गाँवों के उद्योग-धन्धों को शहर कोई आश्रय नहीं देते। बल्कि अपनी ज़रूरत का माल जैसा विदेशों से आवे या बाज़ार में मिले वैसा ही ले लेने की दृढ़ता लोगों में बढ़ी है। पहले ज़माने में ज़मींदार, जागीरदार तथा अन्य श्रीमन्त लोग अपनी ज़रूरत का माल ख़ास कारीगरों और हुनर जाननेवाले लोगों को अपने यहाँ रखकर तैयार कराते थे और दूसरे लोग उनका अनुकरण करते थे। इससे संस्कृति को अवसर मिलता और साथ ही देश के कारीगरों को सार्वत्रिक प्रोत्साहन मिलकर उनकी समृद्धि बढ़ती थी। लेकिन आज का हिन्दुस्तान तो बाहर से बनकर आनेवाले (विदेशी) माल का अन्धा ग्राहक बन गया है। इससे देश की ग़रीबी तेज़ी से बढ़ रही है और लोगों को हुनर-उद्योग के वातावरण से ही जो शिक्षा व संस्कृति सहज में मिलनी चाहिए उसका मिलना असम्भव होगया है।

समाज अपनी रहन-सहन पर गहराई से विचार करे, तो रहन-

सहन के अनुसार व्यवहार की वस्तुयें कैसी होनी चाहिएँ यह तय करे, जीवन के आदर्श के अनुसार व्यवहार के नियमों, शिष्टाचार की पद्धति, सामाजिक धर्मों (कर्त्तव्यों) और सामाजिक संस्थाओं का निर्माण करे और इसके साथ-साथ अपने उपयोग का माल अपनी देख-रेख में अपनी ज़रूरत और अभिरुचि के अनुसार तैयार कराये। यह जीवित समाज का लक्षण है। चाहे जैसा बना-बनाया माल जिस भाव बाज़ार में मिले उसी भाव लेकर काम चला लेने की आदत संस्कार-हीनता का चिन्ह है। इसके विरुद्ध अपनी ज़रूरत का माल अपने ही आदमियों से अपनी ही देखरेख में तैयार कराने में समझदारी है, पुरुषार्थ है, आनन्द है और उसीमें जीवन की संस्कृति है। हमारा समाज पंगु न होगया होता तो उसे यह बात सहज ही समझ में आजाती। लेकिन पंगु समाज की ग़रीबी दूर करना तो कुबेर के लिए भी असम्भव ही है।

ग़रीबी दूर करने के लिए अनेक उपाय करने की ज़रूरत है। लेकिन उनमें भी ख़ास उपाय यह है कि उच्चवर्ग के लोगों में अपने हाथ-पैर काम में लाने की आदत डाली जाय। 'हस्तापादादि संयुक्ताः यूयं किमवसींदथ ?' हाथ-पैर होने पर भी तुम बैठे क्यों हो, यह महाभारत की वाणी उच्चस्वर में सुनाई पड़ रही है।

लक्ष्मी का आद्यस्थान शिरकमल नहीं बल्कि करकमल है। करकमलों से उद्योग और पुरुषार्थ किये बग़ैर शिरकमल पर मुकुट नहीं चढ़ेगा। अतः ऊँचे धन्धे करनेवाले लोग उद्योग की, शारीरिक श्रम की मिठास चखेंगे तो उनके शरीर बलवान होंगे, प्रजा (सन्तति) वीर्यवान होगी, उनके मस्तिष्क व्यवहारकुशल होंगे, शंका-कुशंका और लड़ाई-झगड़े बहुत कम होजायँगे, समाज में उनका असर

फैलेगा, ऊँच-नीच की भावना नष्ट होजायगी, और तेजस्वी जीवनानन्द सबको प्राप्त होकर ग़रीबी के रोग की जड़ बिलकुल नष्ट होजायगी।

: १६ :

मजूर और बेकारी

हिन्दुस्तान में उद्योग-धन्धे कम होने से यहांकी अधिकांश जन-संख्या का आधार खेती पर ही है; पर इतनी अधिक जन-संख्या का बोझ बरदाश्त करने की खेती में शक्ति नहीं है। इसीलिए सरकारी अधिकारी और लोक-सेवक दोनों ही यह कहते हैं कि गांव-वालों के लिए खेती के साथ-साथ कुछ सहायक धन्धे भी खोजने चाहिएं। अनेक अंग्रेज़ अधिकारियों ने इस बात को सरकारी अंकों द्वारा सप्रमाण सिद्ध किया है। यही नहीं बल्कि सरकार-द्वारा नियुक्त शाही कमीशन ने भी विचारोपरान्त यही बात स्वीकार की है।

दूसरी ओर जो लोग ख़ासकर शहरों में ही रहते हैं और फ़सल के या गन्ने की पिराई के वक्त गांवों में जाते हैं, उनमें से अनेक यह कहते हैं कि "आजकल मजूरी कितनी महंगी होगई है! पहले तो मजूर मिलना ही मुश्किल होता है, फिर पूरी मजूरी लेकर भी पूरे आठ घण्टे कोई काम नहीं करता। देर से तो आना, और यह पूछो कि 'देर से क्यों आये?' तो उलटे चले जाने की धमकी! बीड़ी-तमाखू में घण्टों बिता देते हैं, और कभी-कभी तो काम खतम होने से पहले ही चल देते हैं। ऐसा हमारा अनुभव है। फिर आप यह कैसे कहते हैं, कि मजूरों को काम नहीं है?"

बात दरअसल यह है कि फ़सल की कटाई के दिनों में मजूरों को चारों तरफ़ माँग होती है। सभी को वक्त पर अपना माल निकाल लेना होता है, इससे कुछ दिनों काम की भीड़ रहती है। लेकिन बरसात में मजूरों की हालत ऐसी ख़राब होजाती है कि देखी नहीं जाती। यह जवाब दो तो शहरी लोग कहेंगे, "अजी, बरसात का भी हमें अनुभव है। पानी चू-चूकर घर की भीत गिरने लगे तो भी खपरैल ठीक करनेवाले नहीं मिलते। आजकल तो उच्चवर्ग के बाबुओं की ही मौत है। जहाँ देखो वहाँ मजूरों की ही चाँदी है। रसोइये को खाने-कपड़े के साथ पन्द्रह रुपये में रहने को कहो, तो कहता है, 'क्या मुझे बाबू समझ रक्खा है?'" तब यह गोलमाल है क्या?

मजूर नियमित रूप से काम पर नहीं आते, मन लगाकर काम नहीं करते और ख़ूब टालमटोल करते हैं, यह बात निर्विवाद सत्य है। शहर में बरसात के दिनों में खपरैल चढ़ानेवाले नहीं मिलते, इसपर से शहरवालों का यह अनुमान लगाना स्वाभाविक ही है कि सभी जगह मजूरों का मिलना मुश्किल होगा। अपने थोड़े-से अनुभव पर से यह निश्चय कर लेना कि दुनिया में सब जगह ऐसा ही होगा, यह तो मानव-स्वभाव का ही दोष है। लेकिन बरसात के दिनों में खाना न मिलने से, यानी मजूरी के अभाव में, भूखों मर जाने के उदाहरण सचमुच मिलते हैं। आधुनिक पद्धति के छोटे-बड़े कारख़ाने जहाँ प्रचलित हैं वहाँ बाज़ार-भाव से ज्यादा मजूरी दी जाती है और ख़ूब चूसकर काम लिया जाता है। इससे कारखानों के आसपास के इलाक़े में खेती के काम पड़े रहते हैं, मजूर नहीं मिलते, और खेती का सत्त्व भी दिनोंदिन कम होता जा रहा है। कारख़ानोंवाले शहरों में प्लेग या इन्फ्लुएञ्ज़ा शुरू होते ही मजूर पटापट मर जाते

हैं। कारखानेवाले कारखाने बन्द न हों इसके लिए मजूरी की दर बढ़ाते जाते हैं और इस तरह आसपास के गाँवों से मजूरों को बुला लेते हैं। फिर, नये मजूरों के उस छूत की बीमारी का शिकार होने पर, मजूरी और बढ़ जाती है। इस प्रकार संक्रामक बीमारियों के दिनों में शहरी कारखाने मानों मजूरों का भोग चढ़ानेवाले मजूर-सत्र ही बन जाते हैं।

अहमदाबाद, बम्बई, कलकत्ता, कानपुर, जमशेदपुर, मथुरा आदि में जितने चाहो उतने मजूरों का प्रवाह बराबर बना रह सकता है। इसीसे मालूम पड़ता है कि गाँवों में बेकारी काफ़ी है और मजूर बेकार पड़े हुए हैं। शहरों के आसपास के गाँवों में बेकारी कम होने से शहरवालों को गाँवों के दुःख दिखाई नहीं पड़ते, बस यही बात है। नहीं तो, हिन्दुस्तान में कितने ही ऐसे भाग हैं जहाँ ग़रीब लोगों ने चुअन्नी से बड़ा कोई चाँदी का सिक्का ही नहीं देखा। कहीं-कहीं ऐसा भी है कि गाय-भैंस तो हैं, पर उनका घी-दूध खरीदनेवाला कोई नहीं मिलता।

ऐसी भिन्न-भिन्न परिस्थितियों वाले देश के गाँवों के मजूरवर्ग का हमें विचार करना है।

गाँवों में खेती के अलावा सभी धन्धे नष्ट होजाने से मजूरों को बारहों महीने काम मिलने जैसी सुविधा नहीं है। मजूर खेती के वक्त गांव में खेती करें और बाक़ी वक्त में मजूरी के लिए शहर चले आयें, इससे शहरों का काम नहीं चलता। और खेती का धन्धा करनेवाले कुटुम्बों का भी ऐसे जीवन से पार नहीं पड़ता। कोंकण के बेकार लोग घर की खेती सम्हालकर बम्बई की मिलों में काम करने के लिए जाने लगे तो मिलवालों ने पुकार मचाई कि इन मजूरों

के स्थायीरूप से न रहने के कारण हमें बड़ा नुक़सान होता है। गाँव में रहनेवाले हरेक के पास थोड़ी ज़मीन और थोड़े-बहुत गाय-बैल तो होने ही चाहिएं। शहरों में कारख़ाने खोलकर खेती और ग्राम-संस्कृति दोनों का नाश करने की बनिस्बत गाँवों में जाकर सब तरह के ऐसे धन्धों का बीजारोपण करना चाहिए जो घर बैठे किये जा सकें।

जिनके पास ऐसा करने के लिए थोड़ी-बहुत रक़म या अक़ल-होशियारी है, मध्यम-वर्ग के ऐसे लोगों को गाँवों में जाकर बसना चाहिए। आज की निकृष्ट स्थिति में भी अगर मध्यमवर्ग के कुटुम्ब गाँवों में जाकर रहें और पेट-भर अन्न-वस्त्र में ही सन्तोष करें तथा गाँवों में ही मिल सकनेवाले आरोग्य और जीवनानन्द का चस्का उन्हें लग जाय, तो यह सब सम्भव है। मध्यम-वर्गवाले गाँवों में सेवावृत्ति इख़्तियार करें तो उनका भरण-पोषण भलीभाँति हो सकता है। गाँवों में बेचारे किसानों तथा दूसरे आदमियों को हर तरह की सेवा बड़ी महँगी मिलती है। बाज़ार में बिकनेवाली चीज़ें, दवादारू की मदद, वकील की सलाह, खेती की चीज़ें बेचते वक्त आवश्यक व्यापारी सलाह, राजरोग के वक्त देव-दैत्यों को सन्तुष्ट करने के लिए धार्मिक सलाह, भूत-प्रेत निकालने के लिए आवश्यक जन्तर-मन्तर की सलाह, जीवन को अच्छा लगने के लिए आवश्यक ब्राह्मणों का आशीर्वाद—यह सभी उन्हें महँगा पड़ता है। फिर ज़रूरत के वक्त क़र्ज़ लेने की रक़म महँगी पड़े तो उसमें कौन बड़ी बात है?

गाँवों में किसानों को साल के सारे वक़्त के वास्ते खेती का काम न हो तो कोई-न-कोई उद्योग-धन्धा निकाला जा सकता है, जिससे पेट न भरे तो भी वक्त तो कटेगा ही। लेकिन मज़दूरों के

लिए ऐसी बात नहीं है। मजूरों की न तो ऐसी स्थिति है जो वे किसानों की तरह अपनी हालत सुधार सकें, और न उनमें इसके लिए उत्साह ही है। इसलिए समझदार लोगों को उनका नेतृत्व करके उन्हें छोटे-छोटे धन्धों में लगाना चाहिए। लाखों रुपयों की क़ीमत के यंत्र लाकर बड़े-बड़े कारख़ाने खोलने में व्यक्ति का स्वार्थ तो सधता होगा, परन्तु हिन्दुस्तान की ग़रीब प्रजा का उसमें ज़रा भी कल्याण नहीं है। फिर लाखों रुपयों की पूँजी एकत्र करने की शक्ति भी थोड़े ही आदमियों में हो सकती है। परन्तु लाखों समझ-दार देशसेवकों का गाँवों में जाकर करोड़ों लोगों को छोटे-छोटे उद्योग-धन्धे सिखाना और इस प्रकार भूखों मरतों को स्थायी रूप से अन्न दिलाना सहज ही सम्भव है; और इसीलिए प्रजाकीय शिक्षण में बौद्धिक विकास का महत्व कम करके हुनर-उद्योग के तत्त्व का प्रवेश और उसकी वृद्धि करने की ज़रूरत है। जिन्हें परोपकार के लिए ही जीना है उन्हें तो बौद्धिक विकास की बात एक ओर रखकर ग़रीबों की भलाई के लिए हुनर-उद्योग की ओर ही प्रवृत्त होना चाहिए। ऐसे लोगों को आवश्यक बुद्धि सर्वान्तर्यामी परमात्मा खुद ही दे देगा। यही उसका वचन है।

: २० :

गाँवों की शिक्षा-समस्या

इंग्लैण्ड, अमेरिका, फ्रांस, बेलजियम, किसी हदतक इटली और पूर्व में जापान इन देशों के अलावा शेष संसार ग्राम-प्रधान है। लेकिन आजकल तो इन नगर-प्रधान देशों के ही साम्राज्य का संसार

में बोलबाला है। नगर-जीवन उद्योग-व्यवसाय यानी यांत्रिक कार-ख़ानों से समृद्ध हुआ है, यह बात सही है; फिर भी इन देशों का साम्राज्य और इनकी कल्पनातीत सम्पत्ति उन देशों के शोषण पर ही अवलम्बित है जो यन्त्र-प्रधान सम्पत्ति में आगे नहीं बढ़े हैं और जिन्हें कोई उन्नत नहीं कहता। लेकिन यह स्थिति देर तक रहनेवाली नहीं है। क्योंकि ग्राम-संस्कृति का भाग्योदय अब निकट आगया है। मनुष्य-जाति का बड़ा भाग गाँवों में रहता है, गाँवों में ही वह सुख-समाधान के साथ रह सकता है। नगरों के बग़ैर गाँव क़ायम रह सकेंगे, लेकिन गाँवों के बग़ैर नगर तीन साल भी नहीं रहेंगे। सच तो यह है कि जोंक की तरह शहर गाँवों का ख़ून चूस रहे हैं, इसीसे वे इतने समृद्ध हैं।

एक ज़माने में मनुष्य-जाति ने पड़ोसी देश के लोगों को मारकर उनकी ज़मीन, ढोर-डंगर और स्त्री-बच्चों को लूटने का धन्धा शुरू किया। फिर हज़ारों-लाखों लोगों को पकड़कर ग़ुलाम बनाने और जानवरों की तरह ज़ोर-ज़बरदस्ती काम लेने का धन्धा भी कर देखा। आज अज्ञान, दुर्बल, भोले अथवा संकटग्रस्त लोगों की मेहनत-मजूरी का अनुचित लाभ उठाकर धूर्तों ने ऐसा धन्धा शुरू किया है जिसमें अपने हिस्से तो मक्खन और उनके हिस्से छाछ का पानी आता है। इसे अंग्रेज़ी में 'एक्सप्लाइटेशन' (Exploitation) यानी शोषण कहते हैं। हम इसे 'नवनीत-कर्षण' कहेंगे। संसारव्यापी रोग या द्रोह कोई हो तो बलवान और धूर्त लोगों द्वारा किया जानेवाला यह मधु-कर्षण है।

परन्तु अब इस स्थिति की ओर ग़रीबों का ध्यान आकर्षित हुआ है, उन्हें आत्म-विश्वास और अपने सामर्थ्य का साक्षात्कार

होने लगा है। ग़रीबों का भाग्य भी जाग्रत हुआ है; इसलिए आगे से शहरों को अपने पैरों पर खड़ा होना पड़ेगा, या सच पूछो तो शहरों ने अपने ही हाथों अपने पैर काटने का जो आत्मघाती धन्धा आज-तक किया है वह उन्हें छोड़ देना चाहिए। सच तो यह है कि गाँव ही शहरों के लूले होजाने वाले पैर हैं। उनका संरक्षण और सम्वर्धन किया जायगा तो शहर अधिक स्थिर होकर मज़बूत पाये पर खड़े रहेंगे।

दूरदृष्टि से हमें यह भी देखना चाहिए कि आगे से दुनिया के नेता गाँवों से ही सामने आयेंगे। जनता के धुरीण जानपद ही होंगे।

'जिनके हाथों में पालने की डोरी है वही संसार को पार लगायेंगे' इस कहावत का थोड़ा व्यापक अर्थ करके हम यह भी कह सकते हैं कि अब से गाँवों की शिक्षा जिनके हाथ में होगी वही दुनिया को नया रास्ता दिखायेंगे। आनेवाले पचास सालों में जो जगद्व्यापी संस्कृति स्थापित होनेवाली है, अथवा जिस जगद्व्यापी प्रेरणा के योग से प्रत्येक संस्कृति की एक-एक अभिनव आवृत्ति बननेवाली है, वह संस्कृति या वह प्रेरणा ग्राम-शिक्षा की एक नवीन, सामर्थ्यशाली और निष्पाप शिक्षा-पद्धति में से उद्भव होगी। संसार का जो नेतृत्व गाँवों को मिलनेवाला है वह इस शिक्षा के ज़ोर पर ही मिलनेवाला है। इसलिए गाँवों को प्राप्त होनेवाली इस नवीन शिक्षा का रूप कैसा होगा इसका थोड़ा अवलोकन यहाँ करें तो ठीक होगा।

आजतक जिस शहरी ढङ्ग की शिक्षा ने प्रतिष्ठा प्राप्त कर रक्खी है वह बहुत ख़र्चीली, क़र्ज़ में डालनेवाली आलङ्कारिक और चारित्र्य-शून्य है। शिक्षा के लिए पैसा पानी की तरह ख़र्च होता है, यह एक तरह खुशी की बात है; तो भी इसलिए कोई शिक्षा के लिए प्रेरित

नहीं होता कि उससे मनुष्य ज्ञानवान, चारित्र्यवान, सर्वभूतहितरत या स्वार्थ-विस्मृत होता है। आज की शिक्षा तो लोग इसलिए चाहते हैं कि उसमें सामर्थ्य है, सम्पत्ति है, सत्ता है, भोगैश्वर्य है और भोगैश्वर्य नग्नता को ढककर उसे सुन्दर रूप में उपस्थिति करनेवाली कला-कौशल्य-प्रधान संस्कृति है। धर्मशक्ति आज क्षीण हो रही है और जगत् के राजनैतिक नेता ऐसे दाम्भिक होगये हैं कि एक-दूसरे को गुलाँट देने की ताक में रहते हैं, इसलिए जगत् के कल्याण-संबन्धी चर्चा का काम शिक्षण-शास्त्र के हिस्से आया है। लेकिन सर्वमांगल्य की इस भावना को शिक्षित समाज ने पूरी तरह सिद्ध करके नहीं बताया है। आज तो उसे केवल इतना ही भान है कि शिक्षणशास्त्र के तैयार किए हुए जीवन-रसायन में यदि अमुक तोले मांगल्य की इच्छा मिलादी जाय तो वह स्वादिष्ट बन जाता है और अपना असर फ़ौरन बताता है।

सामान्य जनता को तो सदाचार भी चाहिए और भोगैश्वर्य भी। लोगों में तो ऐसी अन्धी धृतराष्ट्री वृत्ति दिखाई पड़ती है कि लूटकर लाया हुआ धन तो हाथ से न निकले और हमारे हाथों कोई अधर्म भी न हो। इसलिए वे शिक्षा-विशेषज्ञों से कहते हैं, 'शिक्षा में आप जो सुधार करना चाहते हों वे सब करदें, पर साथ में पुरानी शिक्षा के तरीक़े भी उसमें रक्खें।' यह अभी लोगों की समझ में ही नहीं आया है कि पुराने तरीक़े कोई तरीक़े नहीं बल्कि बड़े भारी नुक़सान हैं, वह तो दरअसल दूसरे का ख़ून चूसकर पुष्ट होने का रोज़गार है। इसीलिए 'भुक्ति मुक्ति च विन्दति' का लुभावना तत्त्वज्ञान सब जगह फैला है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हिस्सेदार लार्ड क्लाइव और लार्ड हेस्टिंग्स को लिखते थे कि न्यायपूर्वक राज करना, नेटिवों पर

कृपा-दृष्टि रखना, लेकिन रुपये ज़्यादा-से-ज़्यादा भेजते रहना। और, इस अन्तिम वाक्य पर ही ज़्यादा ज़ोर देते थे।

आगे बढ़े हुए यानी उन्नत देशों में आजकल शिक्षा पर पानी की तरह जो रुपया ख़र्च किया जाता है वह दूसरे देशों को चूसकर लाया हुआ होता है। पिछड़े देशों का तेल निकालकर उसकी चरबी से स्वकीयों को पुष्ट करने का काम ही उन देशों में होता है।

सच्ची शिक्षा इन तेली देशों की शिक्षा से भिन्न होनी चाहिए। यह सच है कि सच्ची शिक्षा इस तेली शिक्षा जैसी दर्शनीय, चकाचौंध वाली और रामबाण नहीं दिखाई देगी; और इसीलिए सच्ची शिक्षा लेने की शुरुआत में वह मिर्च-मसाले बग़ैर सात्त्विक, पौष्टिक और पवित्र हविष्यान्न की तरह पहले-पहले कुछ बेस्वाद या अटपटी ही लगेगी, और उसे ग्रहण करते हुए अव्यावहारिक ध्येयवाद के भोग बनकर हम सम्पत्ति, सामर्थ्य, सत्ता और प्रतिष्ठा इन सबको तो नहीं छोड़ रहे हैं ऐसी शंका बारम्बार अथवा हमेशा उठेगी। अतः 'सती के दरवाज़े के मन्दे दिये की शोभा कुलटा के दरवाज़े झूमते हुए हाथी में नहीं आ सकती,' यह पुरानी कहावत जिनके रोम से हृदय तक पैठ गई है उन्हींको यह जीवन-परिवर्त्तन और शिक्षण-परिवर्त्तन हज़म होसकेगा।

"अकृत्वा परसंतापं, अगत्वा खल नम्रताम्।
अनुसृत्य सतां वर्त्म, यदल्पमपि तद् बहु।"

"किसीको भी सताये या कोई अकृत्य किये बग़ैर, नीच लोगों के सामने किसी भी प्रकार सिर झुकाये बग़ैर और सज्जनों के बताये हुए रास्ते से ज़रा भी बाहर न जाते हुए, अपने ख़ुद के परिश्रम से जो-कुछ भी थोड़ा-बहुत फल मिले, उसे गुण और परिणाम की दृष्टि

से बहुत समझना चाहिए।" इस श्रद्धा के बिना युगान्तर नहीं हो सकता।

आजकल का चिकित्सा-शास्त्र कुछ ऐसे विचित्र तरीक़े से बढ़ा है कि हरेक ग़रीब आदमी को यह पश्चात्ताप होता है—'मेरे पास पैसा होता तो बड़े-बड़े डाक्टरों को बुलाता, और बहुत क़ीमती दवायें करके अपने बच्चे या अपनी सहधर्मिणी को मैंने ठीक करा लिया होता। लेकिन क्या करें, ग़रीबों का यह ज़माना नहीं है।' ग़रीबों के घर होनेवाली हरेक मौत के पीछे ऐसा विषाद रही जाता है। यही हाल शिक्षा का भी हुआ है। सम्पत्ति और संस्कारिता एक-दूसरे पर निर्भर हैं, ऐसी स्थिति अथवा भ्रान्ति सर्वत्र उत्पन्न होगई है।

गांवों की सामुदायिक-सर्वोदयकारी शिक्षा का विचार करते समय पहले उस लोभ को दूर निकाल देना चाहिए जो आज हमारे अन्दर पैठ गया है। दुनिया में जो-कुछ हो उस सबकी जानकारी कोई ज्ञान नहीं है। और अमर्याद सामर्थ्य प्राप्त करना कोई शिक्षा का उद्देश्य नहीं है। शिक्षा का व्यापक और उदात्त आदर्श तो यही है कि शिक्षा के योग से मनुष्य को अपनी समस्त शक्ति का परिचय हो, परि-स्थिति यथार्थ रूप में समझ में आजाय, सबके उदय में ही अपना भी उदय है यह समझकर हृदय में रात-दिन चलनेवाला स्वार्थ-परार्थ का झगड़ा हमेशा के लिए मिट जाय, श्रेय और प्रेय एक हों, हृदय उन्नत और व्यापक हो, जीवन नीरोग, उद्योगपूर्ण, प्रसन्न, त्यागमय और कौशल्ययुक्त हो, ऐसे जीवन में से सब काल और सब परि-स्थिति में सन्तोष और आनन्द का फ़ुहारा झरता रहे, और अन्त में जीवन परिपक्व होकर रसीले फल की तरह परमात्मा की गोद में गिर पड़े।

इस आदर्श के लिए आज की शिक्षा का प्रचलित विराट् कार्य-क्रम न केवल अनावश्यक है बल्कि उपयोगी भी नहीं है। आधिभौतिक और आध्यात्मिक ज्ञान बढ़ाते रहना एक प्रकार विधाता की भक्ति अथवा उपासना ही है। परन्तु यह सब ज्ञान शिक्षण-क्रम में ठूँसकर खिला ही दिया जाय, ऐसा आग्रह न होना चाहिए।

इतिहास-ज्ञान से मनुष्य दीर्घदर्शी और विनीत होता है यह ठीक है, परन्तु इतिहास को ही अभी सच्ची शिक्षा नहीं मिली है। वह तो अभी खुद ही दुर्विनीत रहा है। आज के इतिहास को आज की अपनी उद्दण्डता, नास्तिकता और अपना एकांगी आग्रह छोड़कर प्रयोगनम्र, सत्यनिष्ठ और धर्मनिष्ठ बनाना चाहिए। जबतक ऐसा न हो तबतक शिक्षा जैसा पवित्र कार्य अहम्मन्य शेखीखोरों के हाथ में न जाना चाहिए।

जगत् की एकता के लिए हरेक को दुनिया का हरेक देश देखना और वहांके भाषा-साहित्य का परिचय प्राप्त करना चाहिए, यह कहना हास्यास्पद होगा। और यह कहना तो मुश्किल ही है कि इतना सब करने पर भी एकता बढ़ेगी या लोभमूलक विग्रह बढ़ेगा ? बिल्ली जैसे सब घरों में ढूँढ़ती फिरती है उसी प्रकार जगत् के सभी देशों में जिन्होंने पैर फैलाये हैं ऐसे देश जगत् की एकता ही साधते हैं, ऐसा अनुभव से सिद्ध नहीं होता। दुनिया की सभी जातियों के साथ मिल-जुलकर रहने की सात्विक वृत्ति अथवा मनुष्यता जन्म-भर किसी गांव में रहकर भी पैदा की जा सकती है। गीताञ्जलि जैसी पुस्तक में सारी दुनिया का इतिहास नहीं है, फिर भी सभी देशों को वह अपनी-सी ही लगती है। क्योंकि उसके गीतों में जो हृदय है वह शुद्ध और सार्वभौम है। शिक्षा से समस्त सृष्टि नहीं

वल्कि व्यापक और उदार दृष्टि सिद्ध करनी है, इतना ख़याल रक्खा जाय तभी शिक्षा-क्रम वहुजनसमाज के जीवन से मेल खानेवाला होगा। राष्ट्र की एकता के लिए हिन्दी भाषा सीखनी चाहिए, धार्मिक साहित्य के प्रत्यक्ष परिचय के लिए संस्कृत और अरवी भाषायें सीखनी चाहिएं, मुसलमान राज्यों की मित्रता के लिए फ़ारसी भाषा सीखनी चाहिए, एशिया के संगठन के लिए चीनी और जापानी भाषा का परिचय करना चाहिए, यूरोप की आदि-प्रेरणा को समझने के लिए ग्रीक और लेटिन साहित्य का नमूना देखना चाहिए, आधुनिकता प्राप्त करने और भौतिक शास्त्रों को समझने के लिए जर्मन, फ्रेंच अथवा अंग्रेज़ी भाषाओं पर अधिकार पाना चाहिए, और आनेवाली पीढ़ी की राजनीति यशस्वी रीति से सम्पन्न हो इसके लिए रूसी भाषा विदेशी न रहनी चाहिए; इस प्रकार अगर हम भाषा का भार वढ़ाते जायें तो जन्मभाषा को तो घर छोड़कर भाग जाना पड़ेगा, और इस सव भार के नीचे सीखनेवाला ऊँट दवकर मर जायगा सो अलग। राष्ट्रीयता की दृष्टि से हिन्दी को स्थान चाहे हो, परन्तु शिक्षा एक भाषा में—यानी स्वभाषा में—देशभाषा में दी जा सके ऐसी स्थिति तो होनी ही चाहिए। ऐसा आग्रह न हो तो देशभाषा क्षीण ही रहेगी, और उसकी आह से प्रजा का पुरुषार्थ क्षीण होगा।

लेकिन यह ज़रूर है कि किसी भी भाषा का साहित्य उस भाषा को वोलनेवाले लोगों की वड़ी क़ीमती पूँजी होती है। कोई-कोई उसे ऐसा दूध भी कहते हैं जो जीवन-पर्यन्त ज़रूरी होता है। प्रजा के वहुविध पुरुषार्थ का वह जिस प्रकार संग्रह है उसी प्रकार वह नवीन पुरुषार्थ का भी एक क्षेत्र हो सकता है। यह सव जानते और मानते

हुए भी कहना पड़ता है कि शिक्षा का साहित्य-प्रधान होना इष्ट नहीं अनिष्ट है। लेकिन हमारी शिक्षा तो साहित्य-प्रधान ही नहीं बल्कि साहित्य-परायण है। शिक्षा और जीवनोद्देश का परित्याग हो जाने से ही यह कृत्रिम परिस्थिति आजतक क़ायम रही है। साहित्य कोई शिक्षा नहीं है। साहित्य तो शिक्षा का एक साधन है, अलबत्ता वह है क़ीमती और उपयोगी। खुशी की बात यह है कि शिक्षा के साधन के रूप में भी साहित्य बहुत 'सधा हुआ' होने से साहित्य द्वारा शिक्षा देना बहुत आसान होता है। इसके फलस्वरूप सारी शिक्षा का ठेका साहित्य को ही मिल गया है। इससे शिक्षा के अन्य साधन बहुत पिछड़ गये हैं। किम्बहुना वे शिक्षा के साधन भी हो सकते हैं इस बारे में शिक्षाशास्त्रियों और लोकनेताओं में भारी नास्तिकता है।

बुद्धि का चाहे जितना विकास हो, इसका हमें दुःख नहीं है। लेकिन उसके विकास के लिए इतने जीतोड़ प्रयत्न होने पर भी, शिक्षा कृत्रिम, एकांगी और भाड़े की होने के कारण, उलटे, बुद्धि का विकास होने के बदले वह मन्द और कुण्ठित होती है, और खिंची हुई लकीर से बाहर पैर धरने की ही हिम्मत नहीं करती, इस बात से खेद होता है।

बुद्धि का विकास होने से मनुष्य पंगु, परोपजीवी, मुफ़्तखोर बन जाय—भला यह कहाँका न्याय है? स्वातंत्र्य, हिम्मत और सूझ की पुष्टि के लिए, और सामान्यतः सब तरह की सावधानी के लिए, कुशलता, योजनाशक्ति, व्यवस्थाशक्ति और सर्जनशक्ति इन सब का विकास होना चाहिए। इस उद्देश की पूर्त्ति के लिए शिक्षा को साहित्य और तत्त्व-चर्चा की कूण्डी को फोड़कर बाहर निकलना चाहिए। हुनर-उद्योग, कला-कौशल, समाज-सेवा के काम, पराक्रम में

नेतृत्व आदि नवीन क्षेत्रों में से यह शिक्षा लेनी चाहिए। और इस शिक्षा में सामाजिक उत्तरदायित्व, आध्यात्मिक आदर्श, सर्वहित की दृष्टि इन विषयों पर ध्यान दिलाना चाहिए। इसी प्रकार, मनुष्यता की ये आदतें ठीक तरह से पड़ जायें इसके लिए, जिस प्रकार व्यायाम-शाला में शरीर कसा जाता है उसी प्रकार जीवन-क्रम उत्तम रीति से कसा जाना चाहिए।

: २१ :

शरीर-संवर्धन

महाराष्ट्रीयों के स्वभाव के कारण हो या हनुमानजी की और अखाड़े की स्थापना करनेवाले समर्थ (रामदास) की कृपा से हो, महाराष्ट्र के गाँवों में शरीर-संवर्धन बहुत अच्छी तरह होता था। कर्नाटक तथा अन्य प्रान्तों में भी यह वातावरण दिखलाई पड़ता था। उत्तर में शरीर को बनाने की विशेष आस्था पंजाब में दिखलाई पड़ती है। पर जीवन का उत्साह कम होने से और ग़रीबी एवं पराव-लम्बन बढ़ने से इस बारे में भी अनास्था तेज़ी के साथ बढ़ती जाती है।

पुराने अखाड़ों का पुनुरुद्धार करना असम्भव नहीं है। परन्तु पुनुरुद्धार का काम इस पुरानी संस्था के दोष दूर करने का निश्चय करके ही शुरू करना चाहिए। अखाड़े में स्वच्छ और पुष्कल हवा तथा प्रकाश इन सबका शरीरिक और आध्यात्मिक महत्त्व पहचानना चाहिए। शरीर-विकास के पीछे पड़नेवाले लोगों को दूसरे विकास की ओर लेशमात्र दुर्लक्ष्य न करना चाहिए। तालीमबाज़ का अर्थ

मानवदेहधारी बैल न होने देना चाहिए। गाँवों में जो यह विचार घर कर गया है कि झगड़े खड़े करके लड़ाई करने में ही पुरुषार्थ है उसे मिटाना चाहिए, और सबको यही महसूस होना चाहिए कि अखाड़े का संकुचित अभिमान रखने से जो मत्सर और झगड़ा पैदा हो तो उसमें कोई बड़ाई नहीं बल्कि अपनी और अखाड़े की बदनामी है। गवैये और पहलवान जबतक अपनी ही तारीफ़ें करते रहेंगे और दूसरों की बुराई किया करेंगे तबतक उन्हें शिष्ट समाज में स्वाभाविक स्थान नहीं मिलेगा।

अखाड़े की तालीम सरकस के खेल करने के लिए नहीं बल्कि शरीर को बनाने के लिए है, यह न भूलना चाहिए। कितने ही पाश्चात्य विशेषज्ञों ने सौन्दर्य और टीपटाप पर ज़ोर दिया है, उनका हमें अनुकरण नहीं करना चाहिए। अखाड़ा विविध प्रकार के मोहक अथवा महँगे साधनों का प्रदर्शन न बन जाना चाहिए। और कस-रतों में भी महाभारत के इस सिद्धान्त को ध्यान में रखना चाहिए कि कौए की सौ तरह की चाल के बजाय हंस की एक चाल ज़्यादा अच्छी है।

आज या कुछ दिन बाद युद्ध शुरू हो सके ऐसी रणनीति की दृष्टि अखाड़ों के बारे में न रखनी चाहिए। आज के ज़माने में युद्ध की दृष्टि से ढाल-तलवार, छुरी, बरछी आदि चीज़ें बिलकुल व्यर्थ हैं। इनका उपयोग तो बल-संवर्धन, स्फूर्ति और मर्दानगी के लिए ही है। अलबत्ता प्राचीनकाल की एक राष्ट्रीय विद्या के जीवित संग्रहालय के तौर पर इस कला का कुछ महत्त्व ज़रूर है।

अखाड़ों में अब बायस्काउट (बालचर-आन्दोलन) के ढंग पर थोड़ा फेरबदल करना चाहिए। दूर-दूर के प्रवास करना, डेरा (तम्बू)

पड़ा रहेगा, क्योंकि रुपये-पैसे का दिल तो किसी तरफ़ करने का सवाल ही नहीं होता; लेकिन सेवा-संघ के तरुणों के तो दिल होता है, अतः भिन्न-भिन्न पक्ष के लोग जो उन्हें अपनी तरफ़ खींचने लगें तो समाज में सर्वत्र हीन वृत्तियाँ जाग्रत होती हैं और सार्वजनिक नीति-मत्ता घुट जाती है।

सेवासंघों में हिन्दू-संगठन का विचार भी न रखना चाहिए। नहीं तो सेवासंघों के द्वारा समाज की सेवा के बजाय कुसेवा ही होगी।

: २२ :

आरोग्य

१. गाँव में से मनुष्य का मल (पाख़ाना) नष्ट कर देना चाहिए। खाई के रूप में गड्ढे खोदकर उनपर चौखटे रखकर पाख़ाने बना लेने चाहिएँ। इन गड्ढों में तैयार होनेवाला खाद अवश्य काम में लाना चाहिए।

२. पशुओं का मल (गोबर) लीपने या जलाने के काम में नहीं लाना चाहिए। रोड़ियाँ गाँव से बाहर बनानी चाहिएँ। ज़मीन मिट्टी से लीपनी चाहिए। खाद का ढेर लगाकर उसे खुले में न रखना चाहिए; बल्कि गड्ढा खोदकर उसमें डालना और रखना चाहिए। ऐसा न करने से उसमें से खाद के पौष्टिक तत्त्व हवा और धूप से उड़ जाते हैं और खाद निःसत्त्व अथवा कमज़ोर होजाता है। ढोरों का पेशाब बड़ा तेज़ खाद है। हम उसका उपयोग नहीं करते; साव-धानी के साथ हमें उसका उपयोग करना चाहिए।

३. काम में लाये हुए पानी को खड्डों को नरक-कुण्ड बनाकर

उनमें न रोका जाय, बल्कि हमेशा मेथी, धनिया, मूली आदि शाक-भाजी की क्यारियाँ बनाकर उनमें उसका उपयोग करना चाहिए। पानी अधिक हो तो अरवी, ज़िमीकन्द, केले आदि लगाने चाहिएँ, क्योंकि इन सबके बड़े-बड़े पत्ते ज़मीन के भीनेपन या सील को भारी प्रमाणों में चूसकर हवा में छोड़ देते हैं। इन पत्तों के मूल में मच्छरों का होना सम्भव है। इसलिए काम में लाया हुआ पानी घर से जितनी दूर ले जाया जासके उतनी दूर ले जाकर वहाँ ये चीज़ें लगानी चाहिएँ।

यह सामान्य सिद्धान्त ध्यान में रखना चाहिए कि काम में लेने से बिगड़े हुए पानी को मोरी बनाकर दूर लेजाने की बनिस्बत खुली नाली बनाकर लेजाना अच्छा है। और सबसे अच्छा उपाय तो यह है कि पानी को दूर लेजाकर ही काम में लाया जाय।

नहाने, कपड़े धोने, बर्त्तन माँजने, ज़मीन पर मुंह धोने, तथा दातुन करने आदि की जगह जहाँतक हो सके रहने के घर से दूर रक्खी जाय। रसोईघर का पानी एक कोने में गड्ढा बनाकर इकट्ठा किया जाय और नियत समय पर उलेचकर उसे दूर डाल आना चाहिए।

दीवार या भीत में छेद कर मोरी के रास्ते पानी निकालने का रिवाज बड़ा ख़राब है। क्योंकि इससे वहाँ हमेशा सील रहती है, बदबू आती है, रोग के जीव घर बनाकर रहते हैं और साँप, छिपकली आदि के आने के लिए वह स्थायी निमन्त्रण होजाता है; इसके सिवाय इमारत कमज़ोर हो जाती है सो अलग।

४. बिछाने और ओढ़ने के जो कपड़े धोये जा सकें, वे बारबार धोये जाने चाहिएँ। बाक़ी के दूसरे कपड़ों को धूप में डालना चाहिए।

हो सके तो रजाई, लिहाफ़ और बिछौने वग़ैरा को उधेड़कर कपड़ा धो लेना चाहिए और अन्दर की रुई धूप में डालकर फिर भरके सी लेना चाहिए। बीमारों और छोटे बच्चों के लिए घर में मोमजामा रखना चाहिए। गद्दी और तकिये के बीच मोमजामा रखने से गद्दी बच जाती है।

५. घर की हवा—स्वच्छ हवा का महत्व अभी थोड़े ही लोग समझ पाये हैं। हमारे देश की तेज़ धूप सब रोगों को नाश करने में समर्थ है, लेकिन हम उसका उपयोग नहीं करते। पुराने घरों को बदल सकना सम्भव नहीं है। लेकिन उनमें बहुत-सी खिड़कियाँ निकाली या बनाई जा सकती हैं। घर में हवा आती-जाती रहे और प्रकाश मिलता रहे, ये दोनों बातें रोगनाशक हैं। हरसाल गर्मी के मौसम में मकान पर के खपरैल की हेरफेर कर दो-दो, तीन-तीन क़तार या लाइनें हटाकर छप्पर में से खूब सारी धूप घर में आने देनी चाहिए। इसके बहुत लाभ हैं। चौमासे की शुरुआत में घर सारना तो पड़ता ही है, वही दो महीने पहले से शुरू कर देने से सारने का ख़र्च कम पड़ता है और आरोग्यवृद्धि सहज ही होजाती है। जिस कोठरी में खिड़की निकालकर अथवा छप्पर के रास्ते प्रकाश ला सकना सम्भव न हो, गमछा या और कोई कपड़ा लेकर उसे लकड़ी के पटे की तरह घुमाया जाय। इससे अन्दर की हवा बिलोई जाकर बाहर चली जाती है और बाहर की ताज़ा हवा अन्दर आ जाती है। डामर, राल और गन्धक इन सबको घर में धूनी देना रोगनाशक है। कोठड़ी के चाहे जितनी हवादार होने पर भी, उसके कोने-कचरे में हवा बासी रहती ही है। वहाँ ऊपर बताये मुताबिक कपड़े से झाड़कर उसे ताज़ा कर लेना चाहिए।

कोठड़ी में हवा किधर होकर आती-जाती है, इसका हरेक को ख़याल होना चाहिए। कोठड़ी में किसी छोटी-सी सिगड़ी में धूप डालकर यह देखने से कि उसके धुएँ की लौ किधर जाती है इस शास्त्र का ज्ञान होजाता है। साधारण तौर पर जिस कोठड़ी में एक ही दरवाज़ा होता है, वहाँ अन्दर की विगड़ी हुई हवा दरवाज़े के ऊपर की तरफ़ से बाहर जाती है और बाहर की अच्छी स्वच्छ और ठण्डी हवा नीचे से अन्दर आती है। [इसीलिए जिस घर में आग लगी हो, उसमें बिलकुल नीचे झुककर आने-जाने की सलाह दी गई है।]

: २३ :

गोरक्षा

अहिंसा का मतलब है उन सब सचेतन सत्त्वों के प्रति क्रूरता का अभाव जिनमें कि चेतना है। प्राणिमात्र को अभयदान देना, उनके घात में प्रवृत्त न होना, यह व्यापक अहिंसा है।

१

इतनी ऊँचाई तक मनुष्य की धर्मबुद्धि अभी पहुँची नहीं है। मनुष्य-हृदय इतना उन्नत नहीं हुआ है। इसलिए आज की स्थिति में समस्त मानव-जाति से अधिक-से-अधिक जो आशा की जासकती है वह यही कि मनुष्य-मनुष्य के बीच वैर न हो, न केवल किसीका घात ही न किया जाय बल्कि कोई किसीको सताये भी नहीं, कोई किसीके साथ अन्याय न करे।

कोई किसीके साथ अन्याय करे, उसका नाश करे और उससे

वैर बसाये, तो उसके शासन या प्रतिशोध (बदले) के लिए भी कोई किसीको न मारे, कोई किसीका नाश न करे। क्योंकि हिंसा से हिंसा बढ़ती है, कम नहीं होती। इसके विपरीत क्षमावृत्ति से, सहन करने से और मौक़ा आने पर सत्याग्रही सविनय विरोध करने से मनुष्य-हृदय की सज्जनता बढ़ती है।

धर्म-पालन के लिए, शिक्षा की एक क़िस्म के तौर पर और युद्ध की एक नवीन पद्धति के रूप में, मनुष्य-मनुष्य के बीच यदि अहिंसा का ही अवलम्बन हो तो आज का युग कृतार्थ होगा।

२

इससे अगला क़दम हमारे छोटे भाई-बहनों जैसी जो प्राणि-सृष्टि परमेश्वर ने मनुष्य के मातहत की है उसके साथ धर्मपूर्वक व्यवहार करना है। जिस प्राणी से मनुष्य को कोई लाभ-हानि न हो उसके बारे में वह उदासीन ही रहेगा। केवल दुष्ट बुद्धि से अथवा आनन्द के लिए उनका संहार करने के लिए वह कभी-कभी प्रवृत्त ज़रूर होता है, परन्तु इस तरह का संहार ऐसा है जो थोड़े प्रयत्न से रुक सकता है। इसी प्रकार मनुष्य के हाथों कभी-कदास अनजान में होनेवाले संहार को रोकना या कम करना भी कठिन नहीं है।

पर जो जानवर या प्राणी मनुष्य के प्रत्यक्ष नाश का कारण बनते हैं उनका संहार अथवा निग्रह करना वाजिब है, आवश्यक है, यह मनुष्य को इतनी उत्कटता के साथ महसूस होता है कि उसकी इस प्रवृत्ति का निग्रह करना आज तो बड़ा मुश्किल है।

केवल यंत्रों की मदद से देखे जा सकें ऐसे, अथवा जिनके अस्तित्व का पता जन्तुविद्याविशारदों के कहने से ही हमें होता है उन रोग के कीटाणु-जैसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवों के जन्म-मरण के बारे

में, विकास-विनाश के बारे में अथवा सुख-दुःख के बारे में मनुष्य-हृदय जागृत नहीं होता। इन जीवों के प्रति भी अमुक प्रकार का मानव-धर्म है, यह प्रचार करना कठिन है।

३

अब रहे ऐसे जीव जिनका कि मनुष्य-जीवन के साथ सदा का सम्बन्ध बना हुआ है। इनमें से भी जिन्हें पकड़कर मनुष्य अपने आश्रित नहीं बनाता, अथवा जिनसे काम नहीं लेता, उनका रक्षण या पालन करने का धर्म उसके ऊपर नहीं आता। उनका जीवन तो प्रकृति के नियमों के अनुसार ही व्यतीत होगा। चींटी, मकोड़े, जंगली कबूतर, जंगल के सर्प, पशु-पक्षी और पानी में की मछलियों वगैरा का पालन-पोषण करना अथवा प्रयत्नपूर्वक उनकी रक्षा करना भी कोई मनुष्य का धर्मप्राप्त कर्त्तव्य नहीं है। यह तो एक तरह की हविस है, एक तरह का शौक़ है, विनोद है, अथवा दया-धर्म का अत्यातिरेक है।

हाँ, मनुष्य के आहार के लिए आज प्राणियों का जो वध होता है, उसे रोका जा सके तो बड़ा अच्छा हो। लेकिन इसके लिए एक ही मार्ग है। मनुष्य-हृदय को जागृत करने का दूसरा रास्ता नहीं। जहाँ भक्ष्य-भक्षक भाव जम गया है वहाँ दयाबुद्धि उत्पन्न करना बड़ा मुश्किल है। ऐसी परिस्थिति में ख़ास वध के लिए पशु-पक्षी अथवा मछलियों को पाला जाता है। यह रिवाज तो उनके शिकार से भी अधिक गर्ह्य है। जिनका पालन हम करते हैं उन्हीं-का वध करने और जिन्हें हम खिलाते-पिलाते हैं उन्हींको खाजाने में उन जीवों की हिंसा तो है ही, लेकिन मनुष्य-हृदय की हिंसा उससे भी भयानक है।

ऐसी परिस्थिति में जिनका पालन-पोषण हम करते हैं उनका

वध करना जितना अनिष्ट है उतना ही अनिष्ट उनका वंश-विस्तार बढ़ने देना भी है। वध करने के हेतु से पाले जानेवाले प्राणियों का वंश-विस्तार बन्द या मर्यादित करना अहिंसा की एक सीढ़ी ही है।

जिन प्राणियों को पालकर हमने पूरी तरह अपने आश्रित बनाया है उनके वंश-विस्तार का सारा पाप हमारे सिर है। इसका एक रास्ता यह है कि जब वे हमारे अनुपयोगी होजायँ तब उन्हें जंगल में लेजाकर छोड़ दें और फिर से उन्हें जंगली बनादें। दूसरा मार्ग यह है कि उनके वंश को बढ़ने ही न दिया जाय। क्योंकि अनावश्यक प्राणियों की परवरिश का भार उठाना मनुष्य की शक्ति के बाहर की बात है।

४

जो प्राणी हमें दूध आदि आहार प्रदान करते हैं, अथवा जिनकी श्रम-रूपी सेवा हम लेते हैं, वे तो हमारे कुटुम्बो बन जाते हैं। उनका वध करना या होने देना अत्यन्त निंद्य है। गाय, बैल, भैंस, पाड़ा, हाथी, घोड़ा, ऊँट, गधा, खच्चर आदि प्राणी आश्रित दशा में हों तब-तक मनुष्य की ओर से उन्हें अभयदान मिलना चाहिए। यह अभय-दान तभी दिया जा सकता है जबकि उस-उस प्राणी का पालन-पोषण मनुष्य के लिए लाभप्रद हो—और नहीं तो कम-से-कम नुक़सान करनेवाला तो नहीं ही हो।

ऊपर बताए हुए प्राणियों में हाथी, घोड़े और ऊँट का सवाल उतना नहीं है। क्योंकि इनके अस्तित्त्व को अभी कोई भय मालूम नहीं पड़ता। और गधे के लिए मनुष्य कुछ ख़र्च करता ही नहीं, उसकी सेवा वह लगभग मुफ़्त में ही पाता है, इसलिए उसका सवाल भी चर्चा का विषय नहीं है।

अब रहा सवाल गाय-बैल और भैंस-पाड़े इन दो जातियों का। इनमें से गाय-बैल की तो वे जीते हैं तबतक हमें अमर्याद सेवा मिलती है, इसलिए उनके पालन-पोषण और उनके बुढ़ापे में उनकी सार-सम्हाल की ज़िम्मेदारी हमारे ऊपर रहती है। इनमें भी बैल की सेवा हमें अखण्ड रूप से मिलती रहने के कारण उसकी उपयोगिता स्वयं-सिद्ध है। इसीलिए सहसा कोई उसकी हत्या नहीं करता। गाय की उपयोगिता उसके दूध के अनुसार घटती-बढ़ती रहती है; यही वजह है कि उसका जीवन संकटापन्न होगया है। बैल की तरह ही जो गाय के पास से हमेशा लाभ होता रहे तो उसकी हत्या भी कोई सहसा न करे।

गाय पर एक और संकट भी आया है। वह यह कि उसकी ज़बरदस्त प्रतिस्पर्धिनी के रूप में भैंस खड़ी हुई है। मनुष्य-धर्म को पहचानकर अगर हमें भैंस की औलाद का पालन-पोषण और बुढ़ापे में रक्षण करना चाहिए, तो भैंस हमें कभी लाभ न पहुँचायगी। परन्तु गाय की बनिस्बत भैंस का दूध अधिक होता है, उसके दूध में चरबी की मात्रा ज़्यादा होती है और उसकी देखभाल ज़्यादा आसान है; इन कारणों से वह गाय का स्थान छीन लेती है। मगर हमें यह बात न भूलनी चाहिए कि इसमें मनुष्यता को भुलाकर छोटे अथवा बड़े पाड़ों की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हत्या करने से ही भैंस का दूध सस्ता पड़ता है। पाड़ा स्वभावतः श्रम-सहिष्णु या बुद्धिमान नहीं होता। सीलवाली और तर हवा में वह काम दे सकता है बस इतनी ही बात है। साधारण रूप में तो वह ज़रा भी मेहनत नहीं कर सकता। उसके आहार के परिमाण में उसका उपयोग बहुत थोड़ा है और अधिक मेहनत का काम पड़ने पर वह मर जाता है। इससे पाड़े का निरर्थक बोझ

बरदाश्त करने से भैंस का दूध बहुत महँगा पड़ जाता है। आरोग्य की दृष्टि से भैंस का दूध गाय के दूध जितना पथ्यकर नहीं होता, यह भी सोचने लायक़ है। अतः भैंस मनुष्य की सेवा में लगकर अपने ही वंश पर और गाय पर प्रहार करती है। मनुष्य को भैंस पालनी ही नहीं चाहिए थी। जंगल में उसका जो होना होता सो हो-जाता। आज भी हमारा धर्म यही कहता है कि भैंस की सेवा और उससे उत्पन्न होनेवाली ज़िम्मेदारी को छोड़ दो, और सिर्फ़ गाय-बैल की सेवा लेने में ही धर्म-पालन होता है इसलिए उसीमें सन्तोष मानो।

भैंस की अधर्म्य प्रतियोगिता बन्द करने के अनेक मार्ग हैं। परन्तु उनमें रामबाण उपाय यह है कि हम भैंस के दूध तथा उससे बननेवाली चीज़ों को छोड़ दें। भैंस या पाड़े की सेवा न लेने का एक बार हम निश्चय करलें तो फिर इन मामलों से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं कि भैंस सस्ती पड़ती है या महँगी, और उसका दूध अधिक पौष्टिक और ज़्यादा होता है या नहीं।

गाय और उसके वंश को इतना अभयदान देने के बाद, उसके दूध की मिक़दार बढ़ाने और उसे सत्त्वपूर्ण बनाने की चिन्ता हम अपनेआप करेंगे। इसके शास्त्र में आज बहुत उन्नति हुई है, उसका हमें पूरा उपयोग करना चाहिए।

दूसरी बात यह है कि गाय के बारे में हमने आजतक जो अन्याय किया है उसे स्मरण रखकर आदर्श गो-पालन से होनेवाला सारा नफ़ा गाय और उसके वंश की रक्षा में लगाना चाहिए। जिस प्रकार खादी-कार्य का अन्तिम आधार संन्यस्तवृत्ति से रहनेवाले परोपकारी, त्यागी और निर्लोभ समाजसेवकों पर है, उसी प्रकार गो-रक्षा का

आधार भी संन्यस्तवृत्ति वाले गोभक्त समाजसेवक स्त्री-पुरुषों पर ही रहेगा। अतः ऐसी स्थिति लाने का पूरा प्रयत्न करना चाहिए जिससे मनुष्य का गाय पर और गाय का मनुष्य पर बोझ न पड़े। गाय का दूध लोगों को यथासम्भव सस्ता मिले और गाय की उपयोगिता और क़ीमत इतनी बढ़े तभी गाय के लिए कोई डर नहीं रहेगा। आज तो गाय की परवरिश करने के बजाय उसे मार डालना फ़ायदेमन्द होता है, यह कितनी शर्मनाक बात है! यह स्थिति तो बदलनी ही चाहिए, और दुनिया को ऐसा लगना चाहिए कि गाय जैसे मूल्यवान प्राणी को मारने में आर्थिक दृष्टि से भी नुक़सान ही है।

गाय की नस्ल सुधारने की कोशिश होनी चाहिए। बछड़े देने की उसकी शक्ति अन्त तक क़ायम रहे, ऐसे उपाय ढूँढ निकालने चाहिएँ। गाय दूध न दे ऐसे दिन कम-से-कम हों, ऐसे प्रयत्न करने चाहिएँ। इस बात की सावधानी रक्खी जाय कि दूध देना बन्द करने तक उसके दूध में कोई कमी न हो। साथ ही इस बात का ख़याल रक्खा जाय कि जिन थोड़े दिनों गया दूध न दे उनमें उसकी परवरिश अच्छी तरह हो।

गाय के दूध के अलावा उसका गोबर और पेशाब भी उसकी अत्यन्त उपयोगी उपज है। हम हिन्दू गोबर और गो-मूत्र को बहुत पवित्र मानते हैं, लेकिन उनकी उपयोगिता को हमने पूरी तरह नहीं पहचाना। गो-मूत्र का हम खाद के रूप में जितना हमें चाहिए उतना उपयोग नहीं करते। गोबर को सुखाकर हम जला डालते हैं अथवा लीपने में उसका इस्तेमाल करते हैं। इस तरह करने में गोबर का दुरुपयोग और खेती का द्रोह है। अतः खाद के लिए गोबर की सार-सम्हाल करने की कला हमें सीखनी चाहिए।

[गोबर से लीपी हुई जगह को हम हिन्दू लोग पवित्र मानते हैं तो धर्म-चुस्त मुसलमान उसे अपवित्र मानते हैं। गोबर से लिपी हुई जगह पर धर्म-चुस्त मुसलमान कभी नमाज़ नहीं पढ़ेंगे। लेकिन शुद्ध मिट्टी से लिपी हुई ज़मीन को हम दोनों ही एकसमान पवित्र मानते हैं। यह बात ध्यान में रखने लायक़ है।]

गाय की स्वाभाविक मृत्यु के बाद भी हमें उसका और उपयोग कर लेना चाहिए। गाय की हत्या करना पाप है। लेकिन स्वाभाविक रूप से मरी हुई गाय के चमड़े, खुर, हड्डियों, आँतों और मांस इन सबका कोई-न-कोई उपयोग करना हमको सीख लेना चाहिए। मरे हुए जानवर का मांस खाने के काम में हर्गिज न लाना चाहिए, क्योंकि वह शारीरिक और मानसिक आरोग्य का नाश करता है, उससे आलस्य पैदा होता है, उसमें तरह-तरह के कीड़े पड़ जाते हैं और वह बहुत-सी बीमारियों का घर बन जाता है।

स्वाभाविक मृत्यु से मरी हुई गाय का मांस ज़मीन में गाड़ने से उसका बढ़िया खाद बनता है। सींगों और खुरों में से सरेस निकाला जा सकता है। सरेश निकालने के बाद जो रेशे रहें उनके अच्छे ब्रश बन सकते हैं। इसी प्रकार मरी हुई गाय के चमड़े को अत्यन्त पवित्र मानकर उसीको काम में लाने का आग्रह रखना चाहिए। गाय की हड्डी-चमड़ी का व्यापार आज गोमांस-भक्षकों के हाथ में होने के कारण गायों की हत्या बढ़ती जाती है। यही व्यापार गो-सेवकों के हाथ में आने से वह उतनी ही कम होगी और व्यापार से होनेवाला भारी लाभ गोसेवा में ही लगाया जा सकेगा। 'हत्या-चर्म' (मारी हुई गाय का चमड़ा) कमाना आसान है, जबकि 'मृति चर्म' (स्वाभाविक रूप में मरी हुई गाय का चमड़ा) कमाने में अधिक कला

जानने की ज़रूरत रहती है। गो-सेवकों को वह कला सीखकर बढ़ानी चाहिए। सच्चे गो-सेवकों को 'मृतिचर्म' ही इस्तेमाल करने का व्रत लेना चाहिए।

और इस तरह हृदय-बल, बुद्धि-बल, विज्ञान-बल, द्रव्य-बल, व्यापार-बल तथा संघ-बल के योग से धर्मनिष्ठ मनुष्य को मनुष्य-कुटुम्ब में शामिल हुए इस असहाय प्राणी यानी गाय और उसके वंश की रक्षा करके उसकी परवरिश करनी चाहिए।

यह धर्म केवल हिन्दुओं का ही नहीं बल्कि जिन-जिनके गले यह बात उतरे उन मनुष्य मात्र का है। इसमें अहिंसा-धर्म का और मनुष्य-हृदय का विकास है, और इसलिए इसे ईश्वर का आशीर्वाद है।

जिनकी समझ में यह धर्म आगया है वे इसके लिए काफ़ी तपस्या करें तो उस तपस्या के प्रभाव से गो-रक्षा धर्म का सर्वत्र प्रसार होगा, ऐसा अध्यात्म-शास्त्र का कहना है।

: २४ :

ग्रामवृद्ध और अधिकार-संन्यास

कितने ही प्राणी अपने अण्डे ज़मीन में दबाकर खुद मर जाते हैं। उनमें माँ-बाप और बच्चे का परस्पर दर्शन तक नहीं होता। हरेक पीढ़ी को खुद ही अपनी नई दुनिया जमानी पड़ती है। लेकिन मनुष्यों का ऐसा हाल नहीं है। मनुष्य तो जन्म धारण करने के बाद बहुत समय तक परवश रहता है। उसे पुरानी पीढ़ी से शिक्षा प्राप्त करके सज्जित होना पड़ता है। उसी प्रकार दूसरी ओर मनुष्य की उपयोगिता पूरी हुए बाद भी वह नई पीढ़ी का आश्रित होकर ज़िन्दा

रहता है। जीवन के आरम्भ और अन्त का कितना ही भाग प्रत्यक्ष कार्य के लिए उपयोगी नहीं होता। आरम्भ में उसकी शक्ति अपूर्ण होती है और अन्तिम दिनों में क्षीण होजाती है। बचपन में वह ज़िम्मेदारी को समझता नहीं और बुढ़ापे में उससे वह उठाई नहीं जाती।

यह स्थिति दुःख करने जैसी है, यह समझने की कोई ज़रूरत नहीं। इस व्यवस्था से भूत-भविष्य-वर्त्तमान तीनों पीढ़ियों की शृंखला अटूट बनी रहती है, और सब तरह की प्रगति शक्य बनती है। दूसरे प्राणीमात्र दिग्दृष्टि होते हैं। एक मनुष्य-प्राणी ही ऐसा है कि उसमें दिग्दृष्टि के अलावा काल-दृष्टि भी होती है। मनुष्य समझता है कि प्रत्येक क्षण भूत और भविष्य के बीच एक सन्धि है। प्रत्येक क्षण में भूत और भविष्य का सम्बन्ध पहचानकर ही उसे वर्त्तमान में व्यवहार करना पड़ता है। बचपन की शिक्षा ख़ासकर भूतकाल को समझकर पचाने के लिए ही होती है। जीवित भूतकाल का जिसने अध्ययन-आकलन नहीं किया, भूतकाल का अध्ययन करके उसे जिसने पचाया नहीं, उससे वर्तमानकाल का कार्य कुशलता और ज़िम्मेदारी से नहीं होसकता।

यहांतक जो विवेचन हमने किया वह ऐसा है जो सबको मान्य होसकता है। परन्तु वर्तमानकाल की ज़िम्मेदारी को वहन करने के लिए भूतकाल की पूँजी का होना जितना ज़रूरी है उतना ही या उससे भी अधिक भविष्यकाल की दृष्टि होना आवश्यक है। यह दृष्टि जिन्होंने अर्जन नहीं की, भविष्यकाल यानी नई पीढ़ी के साथ जो सन्धान नहीं कर सकते, उन्हें तो अर्द्धशिक्षित ही कहना चाहिए। भविष्यकाल किस दिशा में जाता है, क्या-क्या नये प्रश्न उसने पैदा

किये हैं, यह तो अच्छी तरह समझना ज़रूरी है [illegible] साथ नई पीढ़ी की पसन्द-नापसन्द, रुचि-अरुचि, बौद्धिक रचना और सामर्थ्य की विशेषता पहचानकर उसे उपयुक्त शिक्षा देना, दिशा बताना और काम करने का मौक़ा देना हरेक समझदार व्यक्ति और पीढ़ी का काम है। जिसका प्रत्येक पग भविष्य की ओर नहीं पड़ता, उसे व्यवहार पर की अपनी हुकूमत छोड़ देनी चाहिए। मनुष्य अगर अजरामर होता, तो वह भविष्य की पीढ़ी को व्यवहार करने ही न देता। इच्छा हो या न हो, मृत्यु के आते ही सारी ऐहिक बातें नई पीढ़ी को सौंप देने के सिवा और कोई गति ही नहीं रहती। लेकिन नई पीढ़ी को पुरानी पीढ़ी के हाथ से इस तरह सारे अधिकार छीनने की स्थिति आये, यह दोनों ही के लिए शोभा की बात नहीं है। ईश्वर ने नई पीढ़ी की शिक्षा पुरानी पीढ़ी के हाथ में रक्खी है; इस बात का लाभ उठाकर उतने समय में नई पीढ़ी पर जितने संस्कार डाले जा सकें उतने डालदो। आपको मिले हुए अवसर का अधिकाधिक लाभ उठाने की आपको पूर्ण स्वतंत्रता है। परन्तु वह काल बीत जाने पर नई पीढ़ी में जो-कुछ उत्पन्न हो उसे आत्मसात कर लेने में ही आपकी शोभा है। भावी पीढ़ी के स्वतंत्र होजाने पर भी उसे काम करने का, व्यवहार का, मौक़ा न देना, उसके अधिकार कबूल न करना—ये तो अपनी नालायकी के ही लक्षण हैं। मनुष्य शत्रु के साथ जो व्यवहार रखता है, विरोधी के साथ जिस तरह पेश आता है, वैसा ही वह अपने पेट के बालकों के साथ करे तो समझना चाहिए कि उसकी योग्यता का दिवाला ही निकल गया है। मनुष्य को अपने हाथ में सत्ता रखनी ही हो तो वह अपनी उत्कट सेवा, स्वतंत्र बुद्धि और कार्य-क्षेत्र में अग्रसर होने की तैयारी करती हुई

नई पीढ़ी के साथ सहयोग करने की तत्परता के ज़ोर पर ही क़ायम रहनी चाहिए। हमें अपना व्यवहार ऐसा रखना चाहिए मानों हमें अधिकाराल्ढ़ रखने की ग़रज़ हमारी बनिस्वत नई पीढ़ी को ही ज़्यादा है। गाँवों में इस बात का विचार बहुत कम होता है। मनुष्य-जीवन में प्रगति जैसी कोई चीज़ है, इसकी जिन्हें ख़बर ही न हो; ऐसे लोग यह चाहते हैं कि पुराना ही सब कुछ हमेशा के लिए क़ायम रहे। उनकी ऐसी इच्छा होती है कि हमारे बच्चे सारा व्यवहार हमारी इच्छा और आज्ञा के अनुसार ही करें और हमारे पीछे भी संसार जैसा-का-तैसा ही चलता रहे। दुर्बल लोग परिस्थिति के प्रवाह में घिसटते हुए कोई झगड़ा नहीं करते। जो लोग खुली आँखों धर्म-बन्धनों को शिथिल होते हुए देखते हैं, वही लोग यदि कोई ज्ञानपूर्वक धर्म-व्यवस्था में इष्ट फेरफार करना चाहे तो उसका कसकर विरोध किये बिना नहीं रहते। गाँवों के सामाजिक और आर्थिक प्रश्न आख़िरी स्थिति पर अधिकाधिक पहुँचते जाते हैं। गाँवों में स्वतंत्र विचार न होने के कारण अभी तो उनकी डोर शहरों से ही हिलती है। परन्तु इसमें दुर्भाग्य की बात इतनी ही है कि गाँवों की जनता देश के दूरदर्शी समझदार आदमियों का विचार न कर शहर के स्वार्थी लोग जैसे नचायें वैसे ही नाचने को तैयार हो जाती है। शहरों में चाहे जो आदमी चाहे जो धन्धा करे तो भी कोई बात नहीं, लेकिन गाँवों में सिर्फ़ नीचे के लोगों पर बाप-दादों का धन्धा न छोड़ने की ज़बरदस्ती की जाती है।

[हमारा भी यही मत है कि जहाँतक हो सके किसीको पीढ़ियों से चले आते हुए अपने प्रामाणिक धन्धे को नहीं छोड़ना चाहिए। परन्तु उसके साथ हरेक को अपने धन्धे के विकास के लिए आव-

श्यक स्वतंत्रता होनी चाहिए, हरेक को अपने धन्धे के द्वारा अपना सम्पूर्ण विकास करने का अधिकार मिलना चाहिए। वर्ण-व्यवस्था कोई सामाजिक ग़ुलामी नहीं है। प्रत्येक वर्ग या व्यक्ति स्वेच्छा से धर्म-परतंत्र भले ही हो, पर सामाजिक अत्याचार की छुरी किसीके कन्धे पर न पड़नी चाहिए। गाँवों में बौद्धिक-दासता, आर्थिक दासता और तंत्र-दासता क़ायम रखने के प्रयत्न अभी जारी हैं। मजूरों को प्रामाणिक मजूरी करते हुए भी बिलकुल आश्रित की तरह दबे हुए रहना पड़ता है। यह स्थिति सारे समाज के लिए घातक है।]

गाँवों की तरुण पीढ़ी को नई स्थिति समझाने का काम किसी-को व्यवस्थित रूप में करना चाहिए। नई पीढ़ी का तेजोवध या अपमान न कर, उसके आत्मविश्वास की हँसी न उड़ाते हुए, उसके सामर्थ्य को पंगु न बना, केवल समभाव और सेवा के बल पर, समझ और ज़िम्मेदारी जागृत करके तरुण पीढ़ी को यह बताना चाहिए कि वह अपने समस्त सामर्थ्य का किस तरह उपयोग कर सकती है। एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को अधिकार मिलना चाहिए, ऐसी शास्त्राज्ञा है। इस अधिकार-दान का उपनिषद् में 'सम्प्रत्ति' नाम दिया गया है। बच्चे को शरारती बनाने के बजाय बाप को उसपर ज़िम्मेदारी डालकर ऐसी स्थिति रखनी चाहिए कि वह बाप की मदद के लिए उससे अपेक्षा रखता रहे। उसे बुढ़ापे का जीवन सादा, संयमी और स्वावलम्बी बनाना चाहिए। इसमें वृद्धों को चारों तरफ़ से फ़ायदा ही है। ऐसे जीवन से उनकी शारीरिक और मानसिक शक्तियाँ अन्ततक क़ायम रहेंगी, बुढ़ापा सुख में बीतेगा, दूसरों को उनका बोझा कम-से-कम लगेगा और आख़िरी छुटकारा बिलकुल अनायास होजायगा। लेकिन गाँवों में तो पेट की भूख मनुष्य

हो तो भी बाप उसे कौटुम्बिक या सामाजिक ज़िम्मेदारी के बारे में ज़रा भी विचार नहीं करने देता। यह अन्धा आग्रह उन्हें छोड़ देना चाहिए।

तरुण पीढ़ी को यह कहा जा सकता है कि जिन्हें काम करना है, जिन्हें सुधार करने की हिम्मत है, वे संतोष और दृढ़ता के साथ ऐसा करके उदार बनते हैं। पुरानी पीढ़ी के दोष निकालकर बड़बड़ाते रहना कोई नई शक्ति का लक्षण नहीं है। ग़ैर-ज़िम्मेदारी भी कभी नई शक्ति का लक्षण नहीं मानी जा सकती। उद्धताई कोई स्वतंत्र वीर्य नहीं है। नम्र और सेवापरायण मनुष्य अधिकाधिक अधिकार धारण कर सकता है और उन्हें पचा सकता है।

: २५ :

गाँव और शहर

शहर का अस्तित्व गाँवों की सेवा के लिए है। जैसे बाज़ार लोगों की सेवा के लिए, वैसे ही शहर गाँवों की ख़िदमत के लिए। बाज़ार अगर लोगों का शोषण करने लग जायँ, तो उनका न होना ही अच्छा। ऐसे शहरों से क्या लाभ, जो गाँवों को अपने मुख का ग्रास बनाने के लिए तैयार हों ? ज़िन्दा रहने के लिए रोटी की ज़रूरत है, सिनेमा की नहीं। सिनेमा देखने से पेट थोड़े ही भरता है। पेट को तो रोटी चाहिए, जिसका उत्पादन-स्थान गाँव है। इसलिए दुनिया में प्रधान स्थान गाँवों का ही है। दुनिया के बड़े-बड़े आदमी शहरों से उठकर गाँवों में रहने लगे हैं। दूसरे बड़े-बड़े शहरों के मुक़ाबिले में वर्धा कोई शहर नहीं है। पर गाँधीजी तो वहाँसे भी

उठकर सेगाँव में झोंपड़ी बनाकर जा बसे हैं। शहरों में ऐश-आराम का दौर-दौरा है। चढ़े हुए लोगों को गिराने के लिए यह एक अच्छी चीज़ है। उनके गिरने पर ही तो नीचे के लोगों को ऊपर चढ़ने के लिए मौक़ा मिलता है। लेकिन ऐश-आराम इनसान को गिराने के लिए एक सफल साधन है, इससे नये-नये चढ़नेवालों को सबक़ मिल सकता है। गाँव के लोग शहर में आकर शहर के ऐश-आराम में न पड़ जायँ, भोग-विलास में न डूब जायँ। शहर में गाँव के लड़के आते हैं और शहर की मोहक चीज़ों में आकर फँस जाते हैं। बाप की कमाई खाकर अपनी शक्ति गँवा बैठते हैं। शक्ति हासिल करनी है तो गाँवों में जाओ। और शक्ति गँवाना है तो शहर में आकर बस जाओ। मैंने दिल्ली शहर को देखा, पुरानी दिल्ली और नई दिल्ली दोनों ही। मुसलमान बादशाहों की जराजीर्ण इमारतें भी देखीं, और वायसराय के करोड़ों की लागत के भव्य-भवन भी। पर मैं तो देखकर दंग रह गया। मुझे तो ऐसा लगा कि ये सब विलास की चीज़ें हमें विनाश की ओर ले जा रही हैं। शहर का यह ऐश-आराम का जीवन तो उद्यम और शक्ति से दूर ले जानेवाला जीवन है। मौज करो और मर जाओ, यही एक सबक़ यहाँ मिलेगा।

गांधीजी गाँव में जाकर क्यों रहने लगे हैं? इसलिए कि देश की शक्ति बढ़े। गाँव शक्ति का उद्भव-स्थान है, शहर उसका निधन-स्थान। शहर में तुम लोग जो शक्ति लेकर आये हो उसे यहाँ गँवाकर न जाना। गाँव के लड़के जब शहर में आते हैं तो बुद्धू-से मालूम होते हैं। उनमें शहर की ऊपरी पालिश नहीं होती। शहर के लड़के उन बेचारों का मज़ाक उड़ाकर उनका तेजोवध करते हैं। पर वे टिक जाते हैं। क्योंकि उनके पास शक्ति होती है। आगे चलकर

वे 'बुद्धू' लड़के बहुत ऊँचे चढ़ जाते हैं। शहर में उनकी शक्ति प्रकट भर होगी, बढ़ेगी नहीं। शक्ति तो गाँव में रहकर ही बढ़ेगी। स्वार्थ में फँसकर जो शहर में रह गये, उन्होंने अपनी शक्ति को खो दिया। अगर ऊपर रहना है तो शहर में स्थायी बनकर न रहो। तीर्थस्थान की भी यही बात है। तीर्थस्थान में एक रात या तीन रात से अधिक नहीं रहना चाहिए, ऐसा हमारे बुजुर्गों ने कहा है। और जगह का किया हुआ पाप तीर्थ में धुल जाता है, पर तीर्थ में किया हुआ पाप कहाँ धुलेगा ? शहर का पाप कहीं धुलने का नहीं। यहाँसे जो अच्छी-अच्छी चीज़ें लेनी हैं वे लेकर गाँवों में चले जाओ।

शहर दुनिया में रहें, पर अपनी मर्यादा के अन्दर। गाँवों के वे रक्षक हों, भक्षक नहीं। अच्छे-अच्छे डाक्टर, कारीगर और विद्वान लोग गाँव में जाकर रहें और अपनी कला और विद्या का लाभ गाँव के लोगों को दें। साहूकार बैंक में रुपया जमा न करके गाँवों में नेकनीयती के साथ साहूकारी करें। पैसे को एक जगह इकट्ठा करने में ही डर है। दूसरे के श्रम पर आराम करना भयावह है। आज तो गाँव में 'मात्स्यन्याय' देखने में आता है। वहाँ अच्छे-अच्छे ज्ञानी, पुरुषार्थी लोग जाकर यदि बस्तियाँ बनायें और अपने ज्ञान और पुरुषार्थ की सुगन्ध, त्याग और सेवा की भावनायें फैला दें, तो आज ही देश में 'सत्ययुग' का अवतार होजाय।

: २६ :

गाँवों के पुनर्जीवन का सवाल

[गाँवों के पुनर्जीवन के सवाल पर विस्तृत निबन्ध-माला लिखनी थी। परन्तु उतना अवकाश न मिल सका। इससे यहाँ इन मुद्दों का सूचक एक नोट देकर ही सन्तोष करना पड़ता है। यह नोट तैयार करने में लोक-जीवन के अंग-प्रत्यंग की जिनके साथ अहर्निश चर्चा की है उन मेरे मित्र नरहरिभाई परीख का एक काम-चलाऊ नोट हमारे हाथ में था, उसीका उपयोग किया गया है।]

१. गरीबी

कारण :—

१. पूँजी और सार-सम्हाल के अभाव में खेती की उपज बिल-कुल कम होगई है।

(क) खराब औज़ार।

(ख) पशुओं की दुर्बलता।

(ग) आवश्यकता से कम खाद।

(घ) अच्छे बीजों के चुनाव का अभाव।

(ङ) सालोंसाल एक ही चीज़ की खेती करना।

(च) पानी आवश्यकतानुसार न मिलने के कारण हेरफेर कर यानी एक के बाद दूसरी चीज़ बोने के प्रति दुर्लक्ष्य।

(छ) पास में हमेशा पैसे न होने एवं व्याज पर उधार रुपया मिलने की ठीक व्यवस्था न होने के कारण खेती के महत्वपूर्ण और आवश्यक कार्यों का सुयोग न मिलना।

२. इतने छोटे-छोटे खेत कि जिनमें नफ़ा रहना सम्भव ही न रहे। (नफ़ा होने जितनी खेती की व्याख्या यह है कि सामान्य कुटुम्ब का भरण-पोषण और लोक-व्यवहार उससे चल जाय तथा बैलों की एक जोड़ी को साल-भर का काम मिल सके। ऐसे खेतों को लाभप्रद खेत या Economic Holding समझना चाहिए।)

३. कुटुम्ब में हिस्से करने से अथवा ऐसे ही अन्य कारणों से खेतों के छोटे-छोटे टुकड़े होजाना। ऐसे टुकड़ों से समय बर्बाद होता है और जिस तरह फूटे हुए बर्तन में से बहुत-सा पानी निकल जाता है उसी तरह बहुत-सी मजूरी व्यर्थ जाती है।

४. खेती की ज़मीन का बहुत ज़्यादा हिस्सा ऐसे उच्चवर्ग वाले लोगों के हाथ में होना जो ख़ुद खेती नहीं करते।

५. ऐसी ज़मीन पर अमूमन ध्यान नहीं रहता। ऐसी ज़मीन को जोतनेवाले किसान को उसपर अपना स्वामित्व न लगने से उसकी अच्छी तरह देखभाल करने का उत्साह मुश्किल से ही रहता है।

ऊपर बतलाये हुए कारणों से खेती का ख़र्च बढ़ता है, जिससे खेती के धन्धे में नफ़ा नहीं रहता।

इसका उपाय ऊपर बतलाये हुए कारणों को दूर करने में ही है।

२. क़र्ज़दारी

किसानों की क़र्ज़दारी आमतौर पर जितनी मालूम पड़ती है उससे कहीं ज़्यादा है। हिन्दुस्तान के ख़ालसा (अपने स्वामित्व वाले) इलाक़े के किसानों का क़र्ज़ छः सौ करोड़ से एक हज़ार करोड़ तक होने का अन्दाज़ है। इस प्रकार क़र्ज़ का बोझ प्रति एकड़ ३० से ४० रुपये तक आता है।

इसके कारण :—

१. सामान्य कुटुम्ब में आय-व्यय का मेल नहीं खाता; यानी, खर्च जितनी उपज नहीं होती।

२. गाँवों में प्रचलित उद्योग-धन्धों का नाश, जिससे—

(क) साल के चार-पांच महीने किसान को मजबूरन बेकार रहना पड़ता है। इसका मतलब यह नहीं कि चार-पांच महीने बिलकुल काम ही नहीं होता। लेकिन सात महीने में हो सके इतना काम लम्बा जा-जाकर सालभर में पूरा होता है। बेकारी के दिन कम-ज़्यादा सारे साल में बँट जाते हैं। ऐसा न होता तो किसान मजूरी (रोज़गार) के लिए चार-पांच महीने क़स्बे या शहर में जा सकता। पर आज जो स्थिति है उसमें किसान को खेती में पूरा काम नहीं रहता और वह खेती को छोड़ भी नहीं सकता, ऐसी कठिन स्थिति होगई है।

(ख) पूरा काम न होने से किसान शहर के और विदेशी पूँजीपतियों का आहार बनता है। हमेशा से दबा हुआ होने के कारण उसे उनकी लादी हुई सभी शर्तें माननी पड़ती हैं; और इस प्रकार उसका बिलकुल शोषण होजाता है।

(ग) बेकारों की संख्या बढ़ने से उन सबका बोझ ज़मीन पर बढ़ता है।

३. सरकारी महसूल की मात्रा हद से ज़्यादा होती है और उसे वसूल करने का ढंग कठोर और निर्दय है। फिर खेती की उपज घर में पहुंचे उससे पहले ही महसूल वसूल करने की तारीख रक्खी गई है।

४. तमाखू, अफ़ीम, गांजा, ताड़ी, शराब आदि व्यसन।

५. मुक़दमेबाज़ी।

६. साहूकारों के ब्याज की भारी दर और उनके व्यवहार की शरारत। दर भारी होने के निम्नाङ्कित तीन कारण हैं :—

(क) क़र्ज़ दी हुई रक़म डूबने का डर।

(ख) गाँवों की बहुत-कुछ पूँजी का शहरों में चला जाना।

(ग) हिन्दुस्तान की सम्पत्ति का स्राव (Drain)।

इस विषय में नीचे लिखी बातों पर ध्यान देने की ज़रूरत है :—

१. किसानों की रक्षा के लिए बनाये हुए सब सरकारी क़ानून निष्फल रहे हैं। यही नहीं बल्कि इन क़ानूनों से किसानों की स्थिति उलटे बिगड़ गई है।

२. सरकार की तरफ़ से किसानों को दी जानेवाली तकावी।

३. सरकारी सहयोग-समितियों का कारोबार और उसका असर।

४. इज़्ज़तदार और प्रामाणिक साहूकारों का गाँवों में अधिकतर अभाव। अच्छे साहूकार या तो गाँव छोड़कर शहरों में चले गये हैं, या सच्चे साहूकार-धर्म का परित्याग कर पैसे इकट्ठे करनेवाले सूदखोर बन गये हैं।

इसके साथ ही साहूकारे की स्थानिक स्वदेशी पेढ़ियों और सच्ची साहूकारी का पुनर्जीवन कितना होसकता है, यह सोचना चाहिए। Rural Banks यानी ज़मीन गिरवी रखनेवाले बैंकों की स्थापना होने से किसानों को कितना लाभ होने की सम्भावना है, इस पर भी विचार करना चाहिए॥

७. रुपये-पैसे के मामले में कुटुम्ब को गड्ढे में डालनेवाले सामाजिक रीति-रिवाज।

लड़की के ब्याह में दिया जानेवाला दान-दहेज तथा ब्याह के दूसरे ख़र्च, मरणोत्तर ओसर-मोसर, स्त्री बिकती हुई लेने वग़ैरा के

खर्च कुटुम्ब की पुरानी अथवा काल्पनिक प्रतिष्ठा के अनुसार होते हैं। इस तरह कितने ही कुटुम्ब क़र्ज़दार बनकर धूल में मिल गये हैं।

८. शीत-ज्वर (मलेरिया) अथवा ऐसी ही दूसरी बीमारियों में कुटुम्ब के कितने ही आदमी पड़ जाते हैं, और इस संख्या से दस गुने दूसरे लोग मर नहीं जाते तो खेती के काम के लिए निरुपयोगी तो हो ही जाते हैं।

इलाज :—

१. खेती को सुधारा जाय।

२. गाँवों के उद्योग-धन्धों का पुनर्जीवन हो।

३. किसानों को उनकी परिस्थिति और खासकर उनकी आर्थिक स्थिति प्रत्यक्ष अंकों द्वारा बताई जाय।

सामान्यतः ऊपर बताये हुए कारणों को दूर करना चाहिए।

४. इसीके साथ किसानों पर आज जो क़र्ज़ है उसे छूट देकर और क़िस्त बाँधकर बेबाक करना चाहिए।

५. खेती न करनेवाले उच्चवर्ग के खातेदारों और ज़मींदारों का सचमुच ज़मीन पर कितना हक़ है, इसकी जाँच होनी चाहिए और उस हक़ पर भारी अंकुश लगाना चाहिए।

ज़मीन के मालिकों पर मालिकी हक़ के साथ-साथ पूरी ज़िम्मेदारी भी डालनी चाहिए।

३. गाँवों के धन्धे

१. खादी : अनिवार्य बेकारी को दूर करने का सार्वभौम और रामबाण उपाय है।

२. पशुओं की देख-रेख और सार-सम्हाल : किसानों ने यह

धन्धा क़रीब-क़रीब छोड़ ही दिया है। भैंस रखने के रिवाज से दू
घी तो ज़रूर मिलते हैं, लेकिन ज़मीन की दुरुस्ती के लिए आवश्
बैल वग़ैरा घर पैदा नहीं होते। पाड़ों का बहुत उपयोग न होने
उनका बहुत ध्यान नहीं रक्खा जाता और वे बचपन में ही मर ज
या मार डाले जाते हैं। भैंस की जगह अच्छी गायें पाली जायँ
घर में दूध-घी मिलने के अलावा घर के घर में ही बैल पैदा होंगे
आजकल बैलों की महँगाई बढ़ गई है और अच्छे बैल ख़रीद
साधारण किसान की सामर्थ्य से बाहर होता जाता है।

३. कुम्हार का धन्धा : टीन की चादरें विदेशों से आने लग
के कारण घर के छप्पर और घर में जोड़-तोड़ के साधन उसी
बनते जाते है। इसके फलस्वरूप कुम्हार का धन्धा बैठ गया है औ
वे लोग आजीविका के लिए खेती के धन्धे में लगे हैं। इस तर
ज़मीन पर का बोझ बढ़ता है।

४. चमड़े की कमाई का धन्धा : इस धन्धे में बहुत सुधार कर
की ज़रूरत है। ये सुधार होजायँ तो गांवों में मोची, चमार आ
की ज़िन्दगी सुधर सकती है; गो-रक्षा को मदद मिले, और उसक
लाभ किसानों को भी हो।

५. कपास से बिनौले लोढ़ने का और तेलहनों से तेल निकाल
का धन्धा : कारख़ाने (जीन) क़ायम होने के बाद यह धन्धा भ
नष्ट होने लगा है।

कुछ किसानों को तेल की घानी अपने घर रखनी चाहिए। य
पूरा न पड़ता हो तो अनेक किसानों को एक सम्मिलित घानी रखन
चाहिए। अपने घर के बैल या पाड़े के द्वारा उसे चलाना चाहिए
और घर के तेलहनों का तेल तथा उनकी खल घर के सामने ह

निकालना चाहिए। घर में काम आने के बाद जो माल बचे उसे बेच दिया जाय। इस तरह यह काम मिलों की बनिस्बत सस्ता पड़ेगा। क्योंकि कच्चा माल, साधन, मजूरी, देखरेख सभी घर के ही होंगे।

६. कुटाई-पिसाई : चावल कूटने और आटा पीसने की मिलें शुरू होने से कूट-पीसकर पेट भरनेवाली स्त्रियों के मुँह का कौर छिन गया है, और इस धन्धे की जगह उन्हें दूसरा धन्धा न मिलने से उन्हें मौत का रास्ता बताने-जैसा हुआ है।

७. खेती और माल का आवागमन : पानी निकालने के पम्प, ज़मीन जोतने के ट्रैक्टरों और मोटरों के बड़े खटारों के कारण गाँवों का माल लादकर ले जाने का धन्धा मिट गया है, और इससे खेती के लिए रक्खे हुए बैलों का ख़ाली दिनों का ख़र्च भी खेती पर ही पड़ता है। खेत में मजूरी करनेवाले किसान और बैल दोनों पर अनिवार्य बेकारी आ पड़ने से खेती के धन्धे में नफ़ा ज़रा भी नहीं रहा, बल्कि यह धन्धा ऐसा होगया है जिसमें उलटे अपनी गिरह से निकालकर पूर्ति करनी पड़ती है।

इसी प्रकरण में मुर्गी, बतक़ वग़ैरा पालने, मधुमक्खियों को पालकर कृत्रिम छत्तों में से शहद निकालने, बाँस के काम, रेशम की उत्पत्ति, क़सीदा, जरी का काम वग़ैरा घरों में हो सकनेवाले कितने ही धन्धों का भी विचार होसकता है।

४. सफ़ाई और आरोग्य

१. घर और कुएँ-तालाब के आसपास की गन्दगी व कीचड़ हटा देनी चाहिए।

आज की स्थिति तो यह है कि हम खुली जगह में शौच जाकर

मल को मिट्टी से नहीं ढकते, जिससे वह हवा और पानी दोनों को बिगाड़ता है। इस स्थिति में सुधार करने से सफ़ाई और आरोग्य दोनों सुधरेंगे, इसके अलावा अत्यन्त क़ीमती खाद मिलेगा सो अलग।

२. मिट्टी के तेल के धुएँ वाली डिबियाँ (चिमनियाँ) दीये बरतने से मिट्टी का तेल बहुत बरता जाता है। इससे कपड़े बिगड़ते हैं, धुआँ पेट में जाने से तन्दुरुस्ती बिगड़ती है, कभी-कभी आग भी लग जाती है, और सबसे बड़ा नुक़सान यह है कि आंखें बिगड़ती हैं। लेकिन इस ओर किसीका ध्यान नहीं गया। उलटे जांच-पड़ताल किये बिना ही लोग कहते हैं कि आजतक किसीको नुक़सान नहीं हुआ तो अब ही कहांसे होने लगा ?

३. घरों में साफ़ हवा, पानी और पुष्कल प्रकाश का व्यवहार करने की कोई व्यवस्था नहीं होती। इससे प्रजा दिनोदिन क्षीण होती जाती है, लोगों के फेफड़े कमज़ोर होते जाते हैं। कहीं-कहीं तो ऐसे घरों में ढोर और आदमी भी एक ही जगह रहते हैं !

४. गाँवों में जगह-जगह पानी भरा रहने से उसके कारण मच्छरों और शीतज्वर का उपद्रव बढ़ा है। इन पानी के गड्ढों को पूर देना चाहिए। तात्कालिक उपाय यह है कि गड्ढों में पानी के ऊपर खूब सारा मिट्टी का तेल छिड़क दिया जाय। जमे हुए स्थिर पानी पर मच्छरों के अण्डे रहते हैं। मिट्टी के तेल से वे मर जाते हैं।

५. हाथ में, पैरों में, गले में और नाक-कान में हमेशा गहने पहने रहने से सब जगह मैल बढ़ता है और फिर गन्दे रहने की आदत पड़ जाती है।

६. ओढ़ने-बिछाने के कपड़े, घर का सामान, घरबार वग़ैरा साफ़ रक्खा जाय। शरीर की सफ़ाई की तरफ़ भी ध्यान देना चाहिए।

५. ग्राम-पंचायत

आगे से हिन्दुस्तान की जो भी राज-व्यवस्था हो उसमें गाँव को ही राजव्यवस्था की मूल इकाई (Unit) रखना चाहिए। साथ ही गाँव का अपना कारोबार उसे ख़ुद को ही चलाने की छूट रखनी चाहिए। प्रान्तों का निर्माण भाषा-क्रम से होगा, इसमें कोई शक नहीं। आज के ज़िले और ताल्लुके तो चाहे जैसे बनाये हुए हैं, उनके विभाजन में किसी सिद्धान्त से काम नहीं लिया गया है। लेकिन भविष्य में प्रान्तों के विभाग हवा, पानी और ज़मीन की समानता के अनुसार किये जाने चाहिएँ। ये प्रादेशिक विभाग अपने ख़र्च के लिए अपनी कमाई में से ७५ फ़ीसदी रखकर प्रान्तिक सरकारों को २५ फ़ीसदी यानी रुपये में चार आना देंगे। इन प्रादेशिक विभागों का व्यवस्था-तंत्र कैसा रक्खा जाय और उनके क्या-क्या काम हों, इसकी चर्चा का यह स्थान नहीं है। यहाँ तो सिर्फ़ ग्राम-पंचायतों का ही काम बताया जायगा।

१. न्याय-विभाग पंचायत को सौंप देना चाहिए। पेचीदा मामलों में विभागीय सरकार की मदद लेने में हर्ज नहीं, परन्तु गाँवों के सब मुल्की न्याय पर पंचायत की पूरी हुकूमत रहे। फ़ौजदारी मामलों के लिए ख़ास मजिस्ट्रेट नियुक्त करने में हर्ज नहीं, परन्तु उन्हें भी ग्रामपंचायत की मदद लेनी होगी।

२. गाँवों के चौकी-पहरे और पुलिस का बन्दोबस्त ग्राम-पंचायत के ही मातहत हो।

३. गाँवों के लड़के-लड़कियों की शालायें ग्राम-पंचायत के मातहत हों। हरेक शाला के साथ अखाड़ा तो होना ही चाहिए।

साक्षरता और संस्कारिता का लोगों में प्रचार होना चाहिए। आज तो ऐसा मालूम पड़ता है कि जिस परिमाण में अक्षर-ज्ञान बढ़ता है उसी परिमाण में संस्कारिता उलटे संकुचित होती जाती है। लेकिन, इसके बजाय, चाहिए यह कि लोक-शिक्षा यानी संस्कारिता खूब विशाल और व्यापक हो।

अन्य विविध प्रश्न

१. अस्पृश्यता-निवारण हो।

२. स्त्रियों का दर्जा बढ़ाना चाहिए।

३. किसान-मजूरों की हालत आज लगभग आश्रितों-जैसी—अर्द्धगुलाम-जैसी—है, उसे बदलकर उन्हें आर्थिक और सामाजिक बल प्राप्त कराना चाहिए।

४. बाल-विवाह। खाली क़ानून काफ़ी नहीं है, लोकमत को इसके लिए शिक्षित करना चाहिए।

५. धर्म-संस्करण। भ्रामक मिथ्याविश्वासों और धर्मान्धता आदि धार्मिक पागलपन को दूर कर धार्मिक आदर्श, धार्मिक संस्था, संस्कार और रिवाज इन सबका संस्करण अर्थात् पवित्रीकरण होना चाहिए।

: २७ :

ग्राम-सेवा किस लिए?

मैं शहर में पैदा हुआ, शहर की ही मैंने शिक्षा पाई और आज भी मैं शहर में ही रहता हूँ; फिर भला मैं गाँवों की सेवा का इतना आग्रह क्यों करता हूँ? इसका विस्तृत कारण मैं न बताऊँ तो ठीक न होगा।

बात यह है कि शहर में रहनेवाले लोगों के कुछ नाते-रिश्तेदार तो गांव में होते ही हैं। हम चाहे जितने शहरी हों, फिर भी किसी-न-किसी गांव में तो हमारे वंश वाले होंगे ही। इसलिए साल-दो-साल में गांव जाने का प्रसंग हममें से हरेक को आता है। तब, वहाँ अनुभव होता है कि गाँव और शहर के रहन-सहन में भिन्नता है। शहर में विवेक ज़्यादा है, पर गाँव में जहाँ देखो वहाँ भोलापन दिखाई पड़ता है। प्रथम दर्शन में तो ऐसी छाप पड़ती है कि शहर के लोग अधिक काम काजी हैं, जबकि गांव वालों के पास नष्ट करने के लिए चाहे जितना समय होता है।

मुझे खुद को गाँव की जो पहली याद है, उसमें तो ख़ास बात यह है कि गांव में फल मुफ़्त में खाने को मिलते हैं। गाड़ी में मुफ़्त बैठकर जाते हैं। शाम को ढोर भागते हुए आकर रास्ते में धूल-ही-धूल उड़ा देते हैं, और रात के वक़्त लोग अलाव के आगे बैठकर घास-फूस जलाते और हुक्का पीते हैं। हमारे गांव में एक ओर कालेश्वर का टूटा हुआ मन्दिर था। उसके आगे बड़ का एक पुराना पर विस्तृत वृक्ष था। उस वृक्ष के नीचे कितने ही शिवलिंग, नाग आदि खुदे हुए पत्थर तथा इसी तरह के दूसरे देवता धूल खाते हुए पड़े थे। शिवरात्रि के दिन हम जाकर कालेश्वर की पूजा करते और मन्दिर के बाहर पड़े हुए देवताओं को भी आचमन का पानी देते तथा अक्षत चढ़ाते थे।

ऐसे-ऐसे दृश्यों के काव्य का तो ख़ूब अनुभव किया। छुट्टी के दिनों में अपने प्रिय नाते-रिश्तेदारों की मेहमानगीरी का अनुभव करने के लिए गांव में जाने का मन भी होता था, मगर गांवों की भक्ति कभी पैदा नहीं हुई थी। पर एक बार स्वामी विवेकानन्द के

इस कथन पर मेरी नज़र पड़ी कि 'The Nation lives in the Cottage'—अर्थात्, 'राष्ट्र का निवास तो झोपड़ों में है।' तब फ़ौरन ही मेरा सारा दृष्टिकोण बदल गया। पहले तो मन में शंका हुई, कि क्या सचमुच ही देश के अधिकांश लोग गाँवों में ही रहते हैं? मर्दुमशुमारी के अंक देखने का तो ख़याल न आया, लेकिन स्वानुभव से जवाब मिला कि 'हाँ, देश में शहरों की बनिस्बत गाँव ही ज़्यादा हैं।' रेल में सफ़र करते वक्त एक के बाद एक छोटे-बड़े अनेक गाँव नज़र से गुज़रते हैं तब कहीं एकाध शहर नज़र पड़ता है। फिर हमारे शहर भी कुछ बहुत बड़े तो नहीं होते।

रेल-यात्रा शुरू होने से पहले की बैलगाड़ी का सफ़र याद आया, उसमें भी साँझ-सबेरे कई गाँव निकल जाने पर किसी दिन एकाध शहर नज़र आता। शहर में तरह-तरह की चीज़ें ख़रीदने की अधिक सुविधा ज़रूर है, लेकिन रहने-करने और लोगों की मदद पाने की सुविधा तो सिर्फ़ गाँवों में ही मिलती है। इसलिए बैलगाड़ी के सफ़र के साथ अस्पष्ट तौर पर कुछ ऐसा ख़याल बना हुआ था कि गाँवों का वातावरण घर या कुटुम्ब-जैसा है, जबकि शहर का बाज़ारू है। एक बार जब एक साधु ने मुझे यह कहावत सुनाई कि 'आ पड़े क़हर, तो भी न छोड़े शहर,' तो उस साधु या इस कहावत की रचना करने-वाले के प्रति मेरे मन में कोई सद्भाव उत्पन्न नहीं हुआ। उलटे मन में ऐसा लगा, कि शहर की सुविधाओं का ऐसा रसिक व्यक्ति साधु ही क्यों बना? जहाँ वैद्य न हो वहाँ रहो ही नहीं, जहाँ बाज़ार न हो वहाँ न रहा जाय, जहाँ बातें करने को पण्डित न हों वहाँ न रहना चाहिए, कुग्राम में रहने से मरना अच्छा है—ऐसी-ऐसी बातें शहर के पक्षपातियों ने अनेक बार कही हैं, फिर भी हम लोगों ने

अन्त में गाँवों की ही संस्कृति पसन्द की है। दरबारी कवि कालिदास को भी लोगों की शहर-सम्बन्धी घृणा का पता था, इसीलिए उसने कण्व के शिष्य के मुँह से राजधानी का वर्णन इस प्रकार कराया है—

'जनाकीर्णं मन्ये हुतवहपरीतं गृहमिव ।'

और दूसरे शिष्य के मुँह में भोग-विलासी शहरी लोगों के प्रति बड़े उग्र रूप में ये शब्द रक्खे हैं—मुक्त व्यक्ति जिस प्रकार क़ैदियों को देखता है, जागता हुआ सोये हुओं को देखता है, साफ़-सुथरा मैले आदमी को जिस भाव से देखता है, अथवा नहाया-धोया हुआ कोई तेली के नज़दीक आने पर जो घिन महसूस करता है, वैसी ही इन विलासी शहरियों को देखकर मेरी हालत हुई है।

अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिरशुचिमिव प्रबुद्ध इव सुप्तम् ।
बद्धमिव स्वैरगतिर्जनमिह सुखसगिन मवैमि ॥

राजधानियों में तो क़द्रदान लोग रहते हैं, राग-रंग, नाच-तमाशे खूब होते हैं। मेघदूत में कालिदास ने उज्जयिनी का जो वर्णन किया है, वह काव्यमय चाहे जितना हो पर समाज की ऐसी स्थिति हमें नहीं चाहिए।

इस प्रकार धीरे-धीरे मन में गाँवों और शहरों की तुलना होने लगी। इतने में पाश्चात्य अर्थशास्त्र मदद को आया। उसने बताया कि गाँव और शहर दोनों आवश्यक हैं, एक-दूसरे के पोषक हैं—पूरक हैं। इसमें भी शिक्षा की दृष्टि से, विवेक-शिष्टाचार की दृष्टि से, कला और हुनर की दृष्टि से, इसी प्रकार सैन्य और धन की दृष्टि से शहरों की सामर्थ्य के प्रति आदर-भाव बढ़ने लगा। पाटलिपुत्र जैसी एक राजधानी सारे साम्राज्य का संचालन करे, दिल्ली के हाथ में देश-देशान्तरों का भाग्य खेलता रहे, यह स्थिति महत्वाकांक्षा की

दृष्टि से इष्ट मालूम होने लगी। पेट्रिक गेडिस जैसे संस्कृति के अध्ययनकर्त्ता इस पक्षपात को दृढ़ करने लगे। लेकिन इसी बीच यह शंका जागृत हुई, कि भला साम्राज्यों को अच्छा क्यों माना जाय ? साम्राज्य शक्तिशाली होते हैं, इतिहास में उनकी शोभा है, साहित्यकार उनका गुणगान करते हैं, विदेशी लोग उनसे काँपते हैं। वैभव-विलास की संस्कृति साम्राज्य के अन्दर ही फूलती-फलती है, यह सच है; लेकिन साम्राज्यों में प्रजा सुखी, निर्भय, नीतिमान और धार्मिक होती है, ऐसा विश्वास कौन करा सकता है ? स्वराज्य और साम्राज्य तो परस्परविरोधी आदर्श हैं। प्रजा को सुखी करना हो तो साम्राज्यों का नाश करना ही पड़ेगा, ऐसी मान्यता मन में पैदा हुई। हमारे साहित्य में साम्राज्य का बखान ज़रूर है; लेकिन अगर हम अपने इतिहास की छानबीन करें तो हज़ारों वर्षों के हमारे राष्ट्र-जीवन में सभी साम्राज्यों ने मिलकर कुल ६ सौ से हज़ार वर्ष का समय लिया है। यह देखकर इस विश्वास की वृद्धि हुई कि हमारी प्रजा की हड्डियों में साम्राज्य नहीं बल्कि स्वराज्य है। और गाँवों की संस्कृतिवाले इस देश में यही ठीक भी है। यहाँ तो छोटे-छोटे राजा राज्य करते और प्रजा का रंजन करके सन्तोष मानते हैं। जातक कथा के राजाओं को देखो चाहे पंचतन्त्र के राजाओं को, वे गाड़ी में बैठकर घूमते-फिरते हैं। ज़ीने के नीचे गाड़ी आने पर सारथि लोग मुँह-दर-मुँह बहसाबहसी करते हैं। राजा लोग जब दान देते हैं तो करोड़ कोड़ियाँ देते हैं। हमारे पटेल-पटवारी, इनामदार और गरासियों की तरह से राजा जब ईर्ष्या में आयें तो एक-दूसरे से लड़ते हैं; नहीं तो शिकार खेलते और मौज करते हैं। प्रजा को तो राजनैतिक जीवन से कोई ग़रज़ ही न थी। कभी-

कदास कोई महत्वाकाँक्षी राजा पैदा होता तो घोड़ा छोड़कर सम्राट् बन जाता था।

साम्राज्य की यह कल्पना भी कहाँसे आई ? एक व्यक्ति ने लिखा कि परशुराम ने ब्राह्मणों के स्वाभाविक संगठन के ज़ोर पर क्षत्रियों को चौबीस बार हैरान किया, तब क्षत्रियों को यह बात सूझी कि हम भी अपना संगठन करें और एक को तो सम्राट् बनायें तथा बाक़ी सब उसके माण्डलिक रहें।

तब ऐसे बड़े राज्य अच्छे या छोटे ? इसका जवाब सम्राट् नेपोलियन के एक वाक्य में मिलता है। वह यह कि We unite to strike and seperate to live—अर्थात्, 'चढ़ाई की नीति इख़्तियार करनी हो तो बड़ा संगठन करो; और जहाँ सिर्फ़ ज़िन्दा रहने का सवाल हो वहाँ अलग-अलग रहो।' ज़िन्दा रहने के लिए बड़े संगठन की कोई ज़रूरत नहीं; सिर्फ़ एकत्र होने की, मिल-जुलकर रहने की ज़रूरत है। जितने फैलो उतने ही सुरक्षित, इस बात का अनुभव हमारे मराठों के साहित्य में मिलेगा। हमारा 'गनीमी कावा' (Guerilla Warfare) इन्हीं तत्त्वों पर स्थापित है कि हमला करना हो तब इकट्ठे होजाओ और बचना हो तब बिखर जाओ।

इसपर से हम अहिंसा के सिद्धान्त को समझ सकते हैं। हिंसा का रास्ता पकड़ना हो तभी बड़े-बड़े संगठन करने पड़ते हैं। मनुष्य-स्वभाव ऐसा है कि बहुत-से लोग जमा हों तभी एक-दूसरे को देख-कर शक्ति का अनुभव करते हैं। लेकिन इसका मूल भय में है। शिकारी लोग अपने-अपने खेतों में दूर-दूर रहते और अपनी रक्षा ख़ुद ही करते हैं, जबकि नगर-संस्कृति में आसपास के पहाड़ों या दीवारों (परकोटों) की रक्षा करनी पड़ती है। नगर का अर्थ ही मैं तो

"नगैः पवतै रक्षितम्" करता हूँ। मगध देश की राजधानी गिरिव्रज मिटकर राजगृह हुई, यह इसका अच्छा उदाहरण है। आज तो हम भयभीत संस्कृति की शिक्षा दे रहे हैं। क्या शहर और क्या गाँव, हमारा यह स्वभाव ही बन गया है कि भीड़ में रहें और टोलियों में चलें। गाँवों की यह सच्ची संस्कृति नहीं है। आदर्श स्थिति तो यह है कि साम्राज्य केवल धर्म के हों, कल्पना के हों, आदर्श के हों, सामाजिक मान्यताओं के हों, लेकिन सांसारिक अंकुश तो इतना व्यापक नहीं ही होना चाहिए। मनुष्य जहाँ-तहाँ अपनी व्यवस्था करले। राज्य हो ही क्यों? बस, म्युनिसिपैलिटियाँ ही काफ़ी होनी चाहिएँ। और वे भी छोटी-छोटी, जो जहाँ की तहाँ काम कर सकें। कोई भारी पुरुपार्थ का काम करना हो तब 'फेडरेशन' बनाओ, संघात करो। हृदय जितना विशाल हो, जितनी हृदय की एकता हो, उतना ही संगठन अच्छा होता है। इससे बड़ा संगठन करने जाओ तो स्वतन्त्रता गई और 'जी हुज़ूरी' आई। ऐसे बड़े साम्राज्य हिन्दुस्तान में क़ायम तो ज़रूर हुए, लेकिन प्रजा के सहयोग बग़ैर वे नष्ट होगये। हमारी प्रजा स्वराज्यवादी है, साम्राज्यवादी नहीं। हिन्दुस्तान एक विशाल देश है। लोगों की दृष्टि विशाल है, दृष्टि परलोक तक पहुँचने वाली है। हमने संस्कृति और धर्म का साम्राज्य स्थापित ही नहीं किया, बल्कि उसे खूब मज़बूत भी बनाया। लोग किसी आर्य कल्पना या धार्मिक आदर्श के वशीभूत होते आये हैं। यह लोक-हृदय को पसन्द आने जैसी चीज़ है। हृदय का साथ मिलने से धर्म के साम्राज्य दृढ़ हुए। पीछे राजनैतिक साम्राज्य तो तभी क़ायम रहते हैं जबकि उनके पीछे किसी बड़े पुरुपार्थ की कल्पना हो। लेकिन ख़ाली साम्राज्य प्रजा को कभी नहीं भाये। हमारी गाँवों की संस्कृति स्वराज्य चाहती

है, स्वातन्त्र्य चाहती है, पर साम्राज्य नहीं चाहती। अहिंसा का यह ख़ास लक्षण है।

२

हम जब कालेज में पढ़ते थे, तब वंग-भंग का जागृति-काल था। नरम, गरम इत्यादि सभी दलों की हम चर्चा करते थे। कालेज के दिनों में सामाजिक ज़िम्मेदारी कम-से-कम होती है और चर्चा की सर्वज्ञता समाई रहती है; इसलिए हिन्दुस्तान के उद्धार का रास्ता तय किये बग़ैर कैसे काम चल सकता था? हममें से ज़्यादातर को बम का रास्ता जँचता। आकर्षक तो वह सचमुच ही था। इसलिए हमेशा उसके पक्ष में ही चर्चा होती थी। षड़यंत्र करने, शिवाजी की तरह सरकारी ख़ज़ाने लूटने, लोगों को जंगल में इकट्ठे करके क़वायत सिखाना, विदेशों के साथ सम्बन्ध स्थापित करके शस्त्र मँगाना और अनुकूल समय आने पर अंग्रेज़ों का राज्य नष्ट कर देना—ऐसे-ऐसे विचार और आयोजन हमारे सामने आते थे। गाँववालों में स्वतन्त्रता की इच्छा स्वाभाविक होती है। उन्हें उनकी स्थिति का भान करा दिया जाय तो वे सहज ही विद्रोह करने को तैयार होजायंगे, यह मानकर हम चलते थे। एक दिन दूसरे प्रान्त के एक मेहमान हमारे यहाँ आये। हमने उनके साथ चर्चा छेड़ी। वह भाई बड़े धूर्त थे। शाम को हमारे साथ हवाखोरी के लिए चले तो रास्ते में कुछ किसानों को देखकर बोले, 'इन किसानों को अपने विचार समझाकर अपने बनालो, तब मैं समझूँगा कि तुम्हारा रास्ता सच्चा है।" हमने देश की ग़ुलामी, स्वातंत्र्य-लक्ष्मी के वैभव और अंग्रेज़ों के छल-कपट की बहुत-सी बातें कीं। गाँववाले भाई विवेक की ख़ातिर सिर तो हिलाते गये, लेकिन एकाएक हम यह सब क्या कह रहे हैं यह कुछ उनकी

समझ में नहीं आया। हम अन्त में क्या कहना चाहते हैं और उनसे किस बात की अपेक्षा करते हैं, यह जानने की थोड़ी उत्सुकता-भर बस उनके मुँह पर दिखाई दी।

उस दिन हमें इस बात का इत्मीनान होगया कि गाँव के लोगों और हमारे बीच समुद्र पड़ा हुआ है। एक प्रान्त के होने के कारण हम एक भाषा तो ज़रूर बोलते हैं, लेकिन सिर्फ़ इतने से अपने दिल की बात इन्हें समझाने की शक्ति हमारे पास नहीं थी। इसका उपाय क्या? बहुत-से व्याख्यान देने पर ये लोग ज़रूर समझ सकते हैं, लेकिन खाली समझ लेने से कोई मरने के लिए तैयार नहीं होता। उसके लिए तो उच्च चारित्र्य की आवश्यकता है। केवल बुद्धिवाद से लोग तैयार न होंगे। सच तो यह है कि गाँववालों के हृदय तक हम पहुँचे ही नहीं हैं। हृदय-प्रवेश सेवा से ही होसकता है, दलीलों से नहीं, यह विश्वास जमा। और लोकजागृति किये बग़ैर राजनैतिक क्रान्ति की आशा रखना तो मृगतृष्णा के ही समान है। सच्ची तैयारी तो प्रजा के हृदय की है। प्रजा की अखण्ड सेवा से ही इस हृदय-कमल को खिलाया जा सकता है। दूसरा कोई रास्ता नहीं है। इसलिए, इस रास्ते भी, आख़िर ग्राम-सेवा पर ही आ पहुँचे। लेकिन वह हो किस तरह? गाँवों का अर्थशास्त्र भिन्न होता है, यह तो ख़याल था। लेकिन गाँववालों के लिए किस शिक्षा को जीवित माना जाय? हिन्दुस्तान का इतिहास ख़ुद हमारा ही इतिहास है, यह बात इन लोगों को कैसे समझाई जाय, हमारी यह परेशानी दूर नहीं ही हुई। सच तो यह है कि गाँव में जाकर रहो, वहाँ के लोगों के सुख दुःख में हिल-मिल जाओ, तभी सब कुछ हो। लेकिन गाँवों में जाया कैसे जाय? शहरी शौक़ कैसे छूटें? अख़बारों बग़ैर तो हमारा काम

ही न चले। लाइब्रेरी और डिबेटिंग क्लब भी चाहिएँ। ऐसे-ऐसे अनेक विचार पदा हुए। जहाँ-जहाँ अनुकूल क्षेत्र प्रतीत हुए वहाँ-वहाँ जाकर राष्ट्रीय शिक्षा के प्रयोग किये और गरीबों की मुसीबत का सन्देश पहुँचाया। लेकिन राष्ट्रीय शिक्षा ग्रहण करनेवालों में ख़ास तौर से प्रतिष्टा और आजीविका का सवाल ही दिखाई दिया। गरीबों की सेवा के लिए तैयार होने को कोई राज़ी न था। गरीबों से हमें लड़ाई में तो काम लेना था, पर उन्हें शिक्षित करने का रास्ता हमारे पास न था। नीग्रो लोगों के उद्धारक बुकर टी० वाशिंगटन का जीवन-चरित्र पढ़ा हुआ था, इसलिए अनेक विचार तो मन में उठते, लेकिन कोई ठीक रास्ता नहीं सूझता था। मुझे बहुत दुःख तो इस बात का हुआ कि राष्ट्रीय शाला में शिक्षा पाये हुए विद्यार्थियों में भी ऐसे विद्यार्थी नहीं मिलते जो गाँवों में जाकर रहने को तैयार हों। आख़िर इस सारी स्थिति का मन में विवेचन करने के लिए हिमायलय का रास्ता लिया। वहाँके छोटे-बड़े गाँवों में भीख माँगकर अपना गुज़र किया। लेकिन वहाँकी भाषा का ठीक ज्ञान न होने के कारण प्रचार-कार्य ठीक तरह न होसका। अलबत्ता देश की स्थिति को अच्छी तरह समझने का मौक़ा ज़रूर मिला। दिन में दो बार जुदी-जुदी जगह गरीबों की रोटी खाते हुए मन में यह संकल्प बन गया कि यह देह असंख्य गरीबों के पसीने की रोटी पर क़ायम है इसलिए उन्हींकी सेवा में लगनी चाहिए। गरीबों के वैभव से हमारा वैभव भिन्न नहीं होसकता। लेकिन यह शक्ति कहाँसे आये ? जब कोई भान न था तब सुख, सुविधा और ऐश्वर्य में दिन गये, और जब भान हुआ तब लोकसमुदाय से अलिप्त रहने का शौक़ लगा। इसलिए जिनकी भक्ति मन में पैदा हुई थी उन गरीबों के दरवाज़े तक पहुँचने

का कोई उपाय न था। गरीबों के बीच रहने का जो प्रथम प्रयास किया वह गुजरात में; लेकिन शहरी गुजराती ही अच्छी तरह न आये तब गांववालों की भाषा कैसे समझ में आती? स्वार्थी व्यवहार जितनी भाषा आये तो वह किस काम की? जहां जीवन-परिवर्त्तन करना हो, सामाजिक रीति-रिवाजों की शुद्धि करनी हो, इतिहास या राजनैतिक स्थिति समझनी हो, वहां सिविल सर्विस के लोगों जितना देशी भाषा का ज्ञान कहांतक उपयोगी होसकता है? बड़ौदा के पास सयाजीपुरा में रहकर गांव में रहने का प्रयोग शुरू किया। ऊपर से ऐसा अनुभव हुआ कि हमारे लिए लोगों के हृदय तक पहुँचना सहज नहीं है। वहां जुगतराम भाई भी मेरे साथ थे। उन्होंने तुलसीदासजी की रामायण खोली और अपना प्रभाव जमाया। मैंने देखा कि जो काम हमसे नहीं होता वह अपने साथियों या विद्यार्थियों की मार्फ़त कराना चाहिए। जिस तरह दुनियादार लोग 'आत्म वै पुत्र नामासि' के न्याय से अपनी सब कामनायें अपने पुत्र के द्वारा सिद्ध हुई देखना चाहते हैं, उसी तरह हरेक समाज-सेवक अपना काम अपने साथियों को सौंप देता है। और अध्यापक के तो पुत्र-रूप कितने ही विद्यार्थी होते हैं। सयाजीपुरा में जो अनुभव हुआ, उसपर से निश्चय किया कि अब ग्राम-सेवक तैयार करने की शाला खोलनी चाहिए। मेरे एक मित्र ने बुकर टी० वाशिंगटन की 'My larger education' वाली किताब का अनुवाद किया था, उन्होंने मुझसे उसकी प्रस्तावना लिखने के लिए कहा। मैंने उत्साह में आकर एक सामान्य प्रस्तावना और फिर, उसके अलावा, हरेक प्रकरण की अलग-अलग प्रस्तावनायें लिखदीं। इससे ग्राम-सेवा की कल्पना अधिक स्पष्ट हुई, और उसके साथ यह असंतोष भी जागृत हुआ कि हम प्रत्यक्ष कुछ नहीं करते।

ग्राम-संगठन की दृष्टि से 'ग्राम-देवता' शीर्षक एक लेख इससे पहले लिखा था। वह लेख भी जब-तब यही उलहना देता था कि अभी तूने कुछ किया नहीं। आखिर गाँधीजी ने आश्रम के अन्तर्गत एक राष्ट्रीय शाला खोलने का निश्चय किया और मुझे उसमें बुलाकर काम करने का अवसर दिया। मैंने गाँधीजी से कहा कि ग्राम-सेवक तैयार करने हों तभी मैं आऊँगा। गाँधीजी ने हँसकर कहा, 'इसीके लिए तो मेरा यह प्रयत्न है।' आश्रम में शाला खोलकर हम राष्ट्रीय शिक्षा की चर्चा करने लगे, पर गाँवों की ख़ास ज़रूरत क्या है इसका स्पष्ट कार्यक्रम हमारे सामने नहीं था।

एक बार गाँधीजी का सन्देश लेकर दरबार गोपालदास के उसा गाँव की अन्त्यज-परिषद् में जाने का मौक़ा हुआ। वहाँ ऐसा वातावरण दिखाई दिया, मानों यमुना के किनारे बसा हुआ नन्द का गोकुल ही न हो। इतने प्रजावत्सल राजपुरुष भाग्य से ही देखने को मिलते हैं। गाँववालों में हिलने-मिलने का यही रास्ता है, ऐसा विश्वास होगया। दूसरी ओर आबू की पैदल यात्रा करते हुए गाँवों का जो दृश्य देखा वह दुःखद था। लोगों में न तो सफ़ाई थी, न शिक्षा, और न कोई व्यवस्था ही थी। लेकिन इससे भी ज्यादा मैंने यह देखा कि सच्चे धर्म पर से तो लोगों का विश्वास ही उठ गया है। सज्जनता में उनका विश्वास कम होगया है। मनुष्य घबरा गये हैं। अगर उनका कोई इलाज न हुआ तो वे बहक जायेंगे।

इसके बाद महाविद्यालय की स्थापना हुई। विद्यापीठ बना। उसमें ग्राम-शिक्षा को ख़ास स्थान मिले, औद्योगिक शिक्षा की गुंजाइश हो और जन-सेवा के लिए आवश्यक प्रजाकीय भाषा की ही उन्नति का प्रयत्न हो, इसकी मैंने खूब कोशिश की। फिर भी साहित्य, संगीत

और कलेज की ओर ही मेरा ज्यादा ध्यान था। मेरी वनिस्वत तो मेरे विद्यार्थी ज्यादा अच्छे निकले। क्योंकि परीक्षितलाल जैसे तो अन्त्यजों की सेवा में लग गये। मेरे पुराने साथी माया का उदाहरण तो मेरे सामने था ही। लेकिन ग्राम-सेवा का सच्चा रहस्य तो रविशंकर व्यास ही जानते थे। उनके साथ परिचय होते ही मुझे उनकी शक्ति का पता लग गया। यह सब अच्छा लगता। लेकिन मस्तिष्क का बड़ा भाग तो शहरी संस्कार, शहरी सुविधाओं और शहरी प्रवृत्ति में ही रमा रहता। ग्राम-सेवा को शाब्दिक महत्व तो खूब देते, लेकिन उससे कहीं गाँव का दुःख दूर नहीं होना था।

शहरी प्रवृत्ति को एकाएक छोड़कर गाँव में जा बसनेवाले शिक्षा-शास्त्री तो हमारे जुगतराम भाई हैं। उनका काम देखते ही मैंने उनके विद्यार्थियों को लिख दिया कि सच्ची राष्ट्रीय शिक्षा तो आज वढ़छी में ही दी जाती है। इसके वाद तो यही लगन लगी कि ऐसे सेवक कैसे तैयार किये जायें। विद्यापीठ के विद्यार्थी पढ़ाई के वाद सेवा और आजीविका के मार्ग तो खोजते ही हैं। किसी खानगी कम्पनी में इन्हें नौकरी दिलाओ या हमारी विविध सार्वजनिक प्रवृत्तियों में, चाहे जहाँ इन्हें खपाने की वनिस्वत ग्राम-सेवा की ही एक सम्पूर्ण योजना यहाँ क्यों न करें ? ऐसे विचार मन में चक्कर लगाने लगे।

सन् १९२२ में आनन्द में राजनैतिक सम्मेलन हुआ, जिसके साथ एक शिक्षा-सम्मेलन भी किया गया था। उसमें ग्राम-शिक्षा की मैंने खूब हिमायत की। वल्लभभाई ने तो अपने स्वभाव के अनुसार उसपर यह टीका भी की, कि विद्यापीठ को ही गाँव में क्यों नहीं लेजाते ? पर उनके विनोद ने मुझपर उलटा ही असर किया। मुझे लगा कि वल्लभभाई की वात सच है। विद्यापीठ को गाँव में ले

जाना चाहिए। अध्यापक और विद्यार्थी गाँवों में घूमें तो नये-नये अनुभव होंगे। गाँवों की समस्यायें उनके आगे प्रत्यक्ष होजायँगी। उनकी पढ़ाई सजीव होगी। गाँवों की सेवा के लिए शहर में रहना पड़े तो उसमें कोई हर्ज नहीं। पर विद्यापीठ की प्रवृत्तियाँ तो बहुत-से युवकों को गाँवों में भेजने की ही होनी चाहिएँ। आज तो हुआ यह है कि वल्लभभाई तो गाँव में जाकर बैठे हैं और मैं अभी भी शहर में ही हूँ!

गाँवों की योजना दिमाग़ में पक ही रही थी, इतने में दानवीर नगीनदास अमूलखराय एक लाख रुपये की भेंट ले आये। ग्राम-सेवा-मन्दिर की कल्पना पूरी हुई।

अब आप देखेंगे कि एक-एक कल्पना के पकने में कितना वक़्त लगता है। अभी हम भिन्न-भिन्न देशों और प्रान्तों के अनुभव की पुस्तकें पढ़ने और उनपर से दिशा निश्चित करने की स्थिति में हैं। अभी तो कितना ही काम करना बाक़ी है। आज तो केवल शुरुआत ही हुई है।

इस तरह आप देख सकते हैं कि भारतवर्ष का उद्धार भारतवर्ष के साढ़े सात लाख गाँवों के सजीव होने में ही है। ये छोटे-छोटे गाँव भारतवर्ष की सच्ची संस्कृति हैं। एक सामान्य प्राण से प्राणवान हुई स्वतन्त्र रीति से गाँव चलते हैं। उनके लिए ख़ास संगठन (Organization) की ज़रूरत नहीं। हरेक संस्था को बड़े और व्यापक आधार पर चलाना आज का बड़े-से-बड़ा मोह है। ऐसे संगठन के ख़िलाफ़ स्पष्ट आवाज़ उठानेवाले तो एक कृष्णमूर्ति ही हुए हैं। उन्होंने सारी दुनिया में फैली हुई एक बड़ी संस्था को, जिसके मातहत तीन विश्वविद्यालय चलते थे, एक दिन में तोड़

दिया। दुनियावी कामों में संगठन चाहे करो, पर आध्यात्मिक सिद्धान्त के लिए संगठन की ज़रूरत नहीं है—यह उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से स्पष्ट बता दिया है। बड़े-बड़े संगठन तो हिंसा बग़ैर चल ही नहीं सकते, जबकि हम अहिंसा के मार्ग पर चलना चाहते हैं। अतः बहुत बड़े संगठन हमें नहीं ही करने चाहिएँ।

आज की दुनिया की ख़ास ज़रूरत तो यह है कि सद्बुद्धि से प्रेरित सारी दुनिया के लोग एक ही दिशा में काम करें। लेकिन इसके लिए सबको एक तंत्र में रहने की ज़रूरत नहीं है। विशाल तन्त्र के नीचे तो आत्मिक विकास कुचल जाता है, यह हमें समझ लेना चाहिए। जीवन जितना एकरूप हो उतना ही संगठन धर्म है। पर आज तो दुनिया में Exploitation (शोषण) की दृष्टि से संगठन होता है। इसका विरोध होना चाहिए। ऐसी स्पष्ट कल्पना होने पर ही हम गाँवों की सच्ची सेवा कर सकेंगे। मूल दिशा निश्चित होजाने के बाद ही हमें तफ़सील में जाना चाहिए। ऐसे व्यापक तत्त्वों की चर्चा करने जितनी फ़ुर्सत हमारे पास चाहे न हो, फिर भी उनपर समय-समय विचार तो करना ही चाहिए।

हिन्दुस्तान में चारों तरफ़ अब ग्राम संगठन की बातें होने लगी हैं। यह एक मुख्य फ़ैशन होगया है। लेकिन इसके साथ गहरा विचार और ठोस काम न हो तो यह बात घटोत्कच के बाज़ार जैसी ही सिद्ध होगी और गाँववाले एक बार फिर निराशा में डूब जायँगे। गाँवों का सवाल हमने छेड़ा है, अब इसका हल करने में ही मुक्ति है।

: २८ :

औद्योगिक शिक्षा

गांवों में किताबी पढ़ाई बिलकुल ही न हो, यह हम नहीं कहते। अगर कोई हमारे कथन का यह अर्थ लगाये, तो कहना पड़ेगा कि वह हमारी सभी योजनाओं के साथ अन्याय करता है। यह ज़रूर है कि किताबों की पढ़ाई में घुल जाने से जिनका बिलकुल कचूमर निकल गया है, वे लोग किताबी शिक्षा अपने बालबच्चों को देने के सिवा उसके प्रसार के लिए, और उसमें भी ख़ासकर गांवों में प्रसार के लिए, कुछ नहीं करते। लेकिन गांववालों की भलाई के लिए पुस्तकों की पढ़ाई को गौण स्थान देने का कोई विचार प्रकट करे तो उसे ज्ञान का शत्रु, विद्वत्ता का विरोधी, बुद्धि-विमुख और पिछड़ा हुआ आदि बतलाकर उसके ख़िलाफ़ बवण्डर खड़ा कर देते हैं। वस्तुतः देखा जाय तो ऐसे लोगों में गांवों में विद्या के प्रसार का उत्साह नाममात्र को ही होता है। ऊंचे कहे जानेवाले धंधों के पीछे पड़े हुए अपने बालकों के शिक्षा-क्रम में कहीं शारीरिक श्रम का तत्त्व न घुस जाय, यही चिन्ता उनके सुप्तमन (Sub-conscious mind) में घुसी रहती है, और सच तो यह है कि यही कौटुम्बिक अथवा स्वजातिगत स्वार्थ बाहर प्रकट होने के लिए जन-कल्याण का रूप धारण कर लेता है। 'पूर्ज़्वा' (मध्यवित्त) लोगों का यह स्वभाव ही है। 'आजकल की शिक्षा लोगों को पंगु बनानेवाली है, बुद्धि की मन्दता पैदा करने-वाली है' आदि वर्तमान शिक्षा के सब दोषों को हम तोते की तरह रट तो लेते हैं, किन्तु प्राचीनता के प्रेम के कारण पिछले डेढ़सौ वर्ष ने

जिस शिक्षा की आदत पड़ गई है उसे छोड़ा नहीं जाता। यूरोप, अमेरिका, जर्मनी, जापान आदि देशों की तरह हमें भी अपने यहाँ उद्योग-धन्धे शुरू करने चाहिएँ, उनके लिए बड़े-बड़े कल-कारख़ाने खोलने चाहिएँ, यह कहनेवाले लोग हिन्दुस्तान में भी शहरों की संख्या बढ़ाना और गाँवों को मिट्टी में मिला देना चाहते हैं। उनके कथन का अर्थ इतना ही है कि उद्योग-धन्धों की शुरुआत करनी है, इसलिए 'बूर्ज़वा'-युवकों को विदेश भेजकर इसकी शिक्षा दिलाई जाय। पहले ही मरणोन्मुख हुए गाँवों को बिलकुल मिट्टी में मिला देने का ही यह रास्ता है।

गाँवों में उनकी परिस्थिति के अनुकूल धन्धे चलाने चाहिएँ। गाँवों की ही पूँजी, वहींकी मज़दूरी, वहींकी कारीगरी और वहीं उसके ख़रीदार हों, ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर ही गाँवों का उद्धार होसकेगा। पहले गाँवों में छोटे-छोटे धन्धे चलते रहते थे। झोंपड़ियों में चलते हुए धन्धों का गला दो तरह दबाया गया है। पैसेवाले उच्चवर्गवाले शहरों में जा बसे, वहाँ विदेशी माल ख़रीदने लगे, गाँवों में दूसरे माल की बनिस्बत विदेशी माल सस्ता पड़ता देखकर उसको वहाँ घुसाने का पाप करने की उन्होंने सोची और वहाँके कारीगरों के पेटपर पाँव रखकर अपनी थैली भरने का उपक्रम शुरू किया। वास्तव में देखा जाय तो उन्हें चाहिए यह था कि वे, यह विचार करके कि गाँवों में बननेवाला माल आसानी से और अच्छा किस तरह पैदा होसकता है, कारीगरों के हथियार और औज़ार सुधरवाते। गाँवों के नौजवानों को दस्तकारी और हस्तकौशल की शिक्षा देनी चाहिए थी। अपना समझकर और दिली लगन से गाँवों के उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन देना चाहिए था।

इसी प्रकार विदेशी माल के आढ़तिये बनने के बजाय गांवों के उद्योग-धन्धों के संरक्षक बनना चाहिए था।

सन् १९०५ से १९२० तक के बीच होनेवाले स्वदेशी-आन्दोलन को शहरों में रहनेवाले ग़रीब ऊँचे वर्ग के लोगों के ज्यों-त्यों चलनेवाले छोटे-मोटे उद्योग-धन्धों को मिला हुआ प्रोत्साहन ही कहना चाहिए। और जहाँतक कपड़े का सवाल है, स्वदेशी का अर्थ देश के स्वराज्य-आन्दोलन के प्रति क़रीब-क़रीब उदासीन-से रहनेवाले बम्बई-अहमदाबाद के लखपति और करोड़पतियों को और ज्यादा मालदार बनाकर पश्चिमी ढंग का रहन-सहन बढ़ाने में मदद देना ही था। सहारा के उजड़ते जानेवाले गांवों में से अनेक ग़रीब और असमर्थ लोग घर-द्वार, खेती, ग्रामीण धन्धे, सगे-सम्बन्धी और पुराना घरेलू व्यवसाय छोड़कर मिलों की मज़दूरी करने बम्बई-अहमदाबाद जाते हैं, वहाँ चाय और शराब को अपनाते हैं, अल्पायुषी होकर अपनी ज़िन्दगी के दिन कम करते हैं और फिर भाग्य से ही कभी गांव के दर्शन कर पाते हैं। मिलों को प्रोत्साहन देनेवाली स्वदेशी का यही अर्थ है। आज देश में अगर कोई सबसे बड़ी ख़राबी है तो वह लाखों गांवों के करोड़ों ग़रीबों के धन्धों का यह द्रोह ही है।

अपने देशवासियों के प्रति सच्चा प्रेम हो, तो हमें अपने गांवों में रहनेवाले सब धर्म और जातियों के युवकों को गांवों में ही उपयोगी हो सकने जैसी औद्योगिक शिक्षा देनी चाहिए। खेती की मज़दूरी की प्रतिष्ठा बढ़ाई जाय तो वह काम अधिक उत्साह से, अधिक नियमित और अच्छी तरह होने लगेगा, खेती के व्यवसाय की प्रतिष्ठा बढ़ेगी, कवि लोग कृषि और कृषकों के जीवन पर कविता लिखेंगे, जन-समाज उत्साह से उन गीतों को गावेंगे और पूंजी का प्रवाह भी

[illegible]। इस तरह गाँवों की आवादी वढ़कर लोग सुदृढ़ और सुखी होंगे।

खाने को अन्न, तन ढकने को कपड़ा और रहने को मकान ये प्राथमिक और सार्वभौम आवश्यकतायें हैं। इसलिए खेती और जुलाहे, राज, वढ़ई, लुहार आदि के काम उनसे मिलनेवाली मजूरी के लिहाज़ से चाहे साधारण हों, मगर अधिक-से-अधिक व्यक्तियों को रोज़ी मिलने की दृष्टि से बड़े महत्वपूर्ण हैं। इसलिए इन धन्धों की सामान्य शिक्षा सभी जातियों के युवकों को देना न केवल शक्य बल्कि इष्ट और अत्यावश्यक भी है। सारे राष्ट्र की बुद्धि इन धन्धों में लगाने से इनमें सुधार होकर उन्नति होगी। बुद्धिमान लोग राष्ट्रीय उद्योगों की उपेक्षा करें, इससे बढ़कर राष्ट्रीय आपत्ति और क्या हो सकती है? सच तो यह है कि देश के लोगों को भूखों मरने देकर विदेशी माल को शौक़ से ख़रीदने जैसा और कोई प्रजाद्रोह नहीं है। यह प्रजाद्रोह जहाँ अखण्ड रूप से चलता हो और शिष्टमान्य हो-गया हो, वह देश क्षीणवीर्य होना ही चाहिए।

इस प्रश्न के आर्थिक रूप की छानबीन में हम इस बात का विचार करेंगे कि गाँवों की पूँजी जो बिलकुल घटकर शहरों में पहुँच गई है वह फिर से गाँवों में कैसे पहुँचेगी। क्योंकि शरीर के लिए जैसे दूध-घी हैं वैसे ही गाँवों के धन्धों के लिए पूँजी है। पर यहाँ तो हम केवल शिक्षा की दृष्टि से ही विचार करेंगे।

ऐसा कहनेवाले बहुत लोग हैं कि 'जिन्हें बढ़ई या लुहार बनना हो उन्हींको उस-उस धन्धे की शिक्षा दो। सार्वत्रिक शिक्षा में इन उद्योगों के ज्ञान की क्या ज़रूरत है?' लेकिन उन्हें इस बात का पता नहीं है कि मिट्टी, लकड़ी और लोहे के सहवास में कुशलता प्राप्त

करने से हाथ की अंगुलियों, आँखों और शरीर के दूसरे सब स्नायुओं को कितनी महत्वपूर्ण शिक्षा मिलती है। राष्ट्रव्यापी और सामाजिक महत्व के उद्योग छोटी उम्र में ही सीख लेने से विद्यार्थियों का आत्मविश्वास कितना बढ़ता है, सामाजिक जीवन का यथार्थ रूप कितनी अच्छी तरह उनकी समझ में आजाता है, और इन सबको और समाजशास्त्र को समझने तथा समाज-सेवा करने में उन्हें कितनी मदद मिलती है, इस बात का ख़याल न होने से ही वे ऐसे आक्षेप करते हैं।

इन्हीं लोगों से कोई यह कहे कि "जिसे कवि बनना हो वही कविता सीखे, जिसे इतिहासकार बनना हो उसीको इतिहास पढ़ाओ, जिसे सम्पादक बनना है उसीसे निबन्ध लिखाओ, जिसे क़ानूनगो बनना हो उसीको पैमायश सिखलाओ, जिसे चित्रकार होना हो उसीको ड्राइंग सिखलाओ, जिन्हें पुलिस या फ़ौज की नौकरी करनी हो उन्हींको क़वायत कराओ; सभीको इन सब विषयों में दख़ल देने का क्या काम ?" तो वे कहेंगे कि "आपको व्यापक और संस्कारी जीवन की कल्पना ही नहीं है।"

मेहनत के काम करने, शारीरिक श्रम अथवा उपजीविका के लिए हाथ-पैर चलाने का जिन्हें आलस्य है, उनकी विचार-सरणी और संस्कारिता की कल्पना ऐसी ही रहेगी। दूसरों की मेहनत के पसीने का फ़ायदा उठाने के आदी बने हुए और जिनके कन्धों पर बैठकर फिरें उन्हींको लात मारनेवाले ये 'ऊँचे' धन्धे करनेवाले लोग गांवों की राष्ट्रीय शिक्षा का विचार ही नहीं कर सकते।

अपने जीवन की सम्पूर्णता के लिए जिस प्रकार औद्योगिक कुशलता और नफ़े-नुक़सान का विचार आवश्यक है उसी प्रकार

माप वगैरा करने की सावधानी भी बहुत ज़रूरी है। हमारे समाज की ग़फ़लत और ऊलजलूल अनुमानों पर चलनेवाले व्यवहार के कारण हमारा जीवन जितना पिछड़ा है उतना विदेशी शासन के बोझ से भी नहीं पिछड़ा होगा। सबसे बड़ी हानि और फ़िज़ूलख़र्ची तो समय और आयुष्य की हुई है। किस काम में कितना वक़्त लगेगा, कितने साधनों की दरकार होगी, ख़र्च कितना पड़ेगा, नफ़ा-नुक़सान क्या और कितना होगा, और उस काम का दूसरा क्या-क्या उपयोग होगा, इसका ठीक अन्दाज़ लगा सकने वाले कितने लोग समाज में होंगे? जो सौ तक गिनती भी ठीक तरह नहीं बोल सकते ऐसे प्रौढ़ वय वालों और वृद्धों को देखकर समाज की शिक्षा का भार वहन करनेवाले लोगों का महान् प्रजाद्रोह असह्य प्रतीत होता है। लिखना-पढ़ना जाननेवाले लोग दो तरह से सम्पन्न होसकते हैं। अपना ज्ञान अपने ही पास रखकर सामान्य जनता को अज्ञान में ही पड़े रहने देते हुए, उसके अज्ञान और उसकी दुर्दशा का दोनों ओर से लाभ उठाकर उसको रत्ती-रत्ती चूस लेने का एक रास्ता है। दूसरा रास्ता ज्ञान और कार्यकुशलता की दृष्टि से जन-समुदाय की सब तरह उन्नति करना, उसको सामर्थ्य-सम्पन्न करना और ऐसे सम्पन्न लोगों का नेतृत्व करके उनकी सेवा करते हुए अपनी बहुविध उन्नति करने का है। इनमें पहला मार्ग पुरुषार्थहीनता और नास्तिकता का है, पर हमारे देशवासियों को वही अधिक अच्छा और सधा हुआ प्रतीत होता है।

आज अगर प्रजाकीय शक्ति जागृत करनी हो, लोगों की दृष्टि संगीन और निर्मल करनी हो, तो चाहे जिस तरह हो पर लोगों को गणित में प्रवीण करना चाहिए। क्योंकि गणित के बग़ैर कौशल्य,

कार्यकुशलता और किफ़ायतशारी में वृद्धि नहीं होगी; आलस्य, दैववाद और जड़ता का नाश नहीं होगा। व्यावहारिक गणित और आर्थिक बातों का ज्ञान वस्तुतः राष्ट्रीय महत्व के विषय हैं। इनके योग से श्रमजीवीजन का सामर्थ्य बढ़ेगा। सुधरे हुए हथियारों और औज़ारों का व्यवहार करने, नई-नई शोधें करने, छोटे-बड़े कल-कारख़ाने चलाने आदि सब कामों के लिए सूक्ष्म गणित का ज्ञान और उसको अमल में लाने की प्रवृत्ति आवश्यक है। हम लोगों को तो ज़रा कोई खूबीवाली चीज़ देखी नहीं कि 'आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनं' जैसी हालत होजाती है। परन्तु उसके अन्दर सच्ची खूबी क्या है, यह समझने जितना पुरुषार्थ बहुत कम लोगों में दिखलाई पड़ता है। प्रजा की इस बाजू को हमने सुप्त ही रहने दिया है। "श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्"। निरीक्षण करना, परीक्षण करना, प्रयोग करना, अनुभवों को दर्ज करके रखना, हरेक चीज़ का माप निकालना, वस्तुओं के साधर्म्य-वैधर्म्य की जांच करना, उनका कार्यकारण-सम्बन्ध निश्चित करना और ऊलजलूल अनुमानों को अपने सारे जीवन से निकाल देना प्रजाकीय शिक्षा का सबसे महत्वपूर्ण काम है। गणित और कौशल्य पर ही यह रचना हो सकेगी।

: २६ :

स्वदेशी नवविचार

एक समय विदेशियों की आलोचना से अस्वस्थ बनकर और यह समझकर कि पुरानी रहन-सहन से चलने में देश की बदनामी

होती है। मध्यमवर्गीयों ने अपने जीवन-क्रम में कितने ही अन्धे फेरबदल करके उन्हें सुधारों का नाम दिया। सनातनी समाज ने उनका कसकर विरोध करने में अपनी बहुतेरी शक्ति व्यर्थ ही वर्बाद की। कोई भी नई वस्तु दीखते ही अन्धेपन से उसका विरोध करना, पर उस शक्ति के सम्पर्क में आकर उसका परिचय होते ही या उसका अपरिचितपन दूर होते ही उसे अपना लेना, यह मनुष्य-स्वभाव ही है। पहले संयोग फिर विरोध और अन्त में एकीकरण, यह जीवन-प्रगति का नियम ही है, ऐसा तत्त्वज्ञानियों ने निश्चित किया है। फिर भी यह तो ध्यान रखना ही चाहिए कि इस नियम की वजह से सामाजिक शक्ति और जीवन-काल का अपव्यय न हो।

पुराने ज़माने के सामान्य सुधारकों ने प्राचीनता के स्थायी जीवन-पोषण तत्त्व देखे नहीं थे और नवीनता के दोष उनके सामने न आये थे। इससे ऐसी प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती थी कि जो-कुछ स्वदेशी हो उसे छोड़कर जो-कुछ विदेशी हो उसे ग्रहण कर लिया जाय।

पुराने सुधारकों की तीसरी कठिनाई यह थी कि वे जो सुधार करते थे वे मध्यमवर्ग को सुख-सुविधा पहुँचाने के लिए ही होते थे। समस्त जन-समाज की ज़िम्मेदारी उनपर है, यह बात उनकी समझ में नहीं आई थी। इसलिए सुधारों के हरेक आन्दोलन के साथ दीर्घ-उद्योग होना चाहिए, पिछड़े हुओं को आगे लाना चाहिए और समस्त जनता के प्रश्नों को प्रधानता देनी चाहिए, इन बातों पर उनका ध्यान नहीं था।

अब यह युग बदला है। अब सुधारक और उद्धारक का पुराना भेदभाव नहीं रहा। अब जीवनव्यापी और आर्य-तत्त्व-ज्ञान का

अनुसरण करनेवाला सार्वभौम नवविचार देश में उत्पन्न हुआ है। अब विदेशियों की आलोचनाओं का जवाब देने का कारण नहीं रहा, स्वकीय जीवन-क्रम के दोषों को हमें जड़मूल से निकालना है। दुर्बलों और पराधीनों की समाजनीति अलग होती है और समर्थ स्वातन्त्र्योन्मुख राष्ट्र की दूसरी। आज हमारे यहाँ यह दूसरे प्रकार की समाजनीति चल पड़ी है। इसकी शक्ति अमोघ है। इसका प्रचार बढ़ना बन्द न होगा तो पिछड़े हुए भागों में दीनता और दुर्बलता बनी रहेगी और हमारी प्रगति क्लेशकारक होगी। इसलिए कोई भी नया विचार और उसका नवजीवन गाँववालों को नई पद्धति से समझाना चाहिए।

हमारे पूर्वजों ने हमारे आर्य-तत्त्व-ज्ञान में के कितने ही तत्त्वों को अपने जीवन में अमली रूप दिया, पर सामाजिक जीवन की तरफ़ कोई ध्यान न दिया—उसे ज्यों-का-त्यों चलने दिया। हमारा धर्म समानता का सूचक है और एकता की ओर लेजाता है। परन्तु हमारी शास्त्रोक्त समाज-रचना असमानता को ही जीवन-तत्त्व समझती है। इस तत्त्व पर निर्मित समाज की इमारत तभीतक टिक सकी जबतक कि कृत्रिम रूप से उसे टिकाये रक्खा गया। अब उसमें चारों तरफ़ से टूट-फूट होने लगी है। अतः अपनी समाज-रचना में हमें अपने धर्म का मुख्य तत्त्व दाख़िल करना चाहिए।

समाज-रचना और अर्थ-व्यवस्था (साम्पत्तिक नीति) का गठजोड़ा बहुत पुराना है। जगत् की भावी अर्थ-व्यवस्था समानता की नीति की तरफ़ ही जानेवाली है। यह फेरबदल रूस की तरह क़ानून यानी राजव्यवस्था के ज़ोर पर न कर जीवन-परिवर्तन के, धर्मतेज के प्रताप से, करना चाहिए। आज समाज पुराने रीति-रिवाजों

को सम्हाल लेने या क़ायम रखने का नहीं है, वल्कि हमारे धर्म के प्रधान और असल तत्त्व अमल में लाये जा सकें वैसी शिक्षा और उतनी हेरफेर समाज में करनी चाहिए। ज़रूरत इस वात की है कि तात्त्विक दृष्टि से विचार करने और तदनुसार अपने आचरण में फेरवदल करने की हिम्मत लोगों में आये।

इस नवीन विचार में सर्व धर्म समान, सर्व जाति समान, सर्व वर्ण समान, सर्व देव समान, सर्व धन्धे समान, स्त्री-पुरुष समान, सबके समय का मूल्य समान—ऐसा नया शास्त्र अमल में लाना है। ये सव वातें हमारे धर्म में तो मौजूद ही हैं। लेकिन अव उन्हें राष्ट्रीय जीवन के अन्दर प्रत्यक्ष रूप से अमल में लाना है। ऐसे लोग कितने हैं जिन्होंने इन वातों को यथार्थ रूप में हृदयंगम कर लिया है? उनकी संख्या वढ़नी चाहिए, साथ ही उनकी शक्ति और उनके संकल्प में भी वृद्धि होनी चाहिए।

सस्ता साहित्य मण्डल : 'सर्वोदय साहित्य माला' के प्रकाशन

१—दिव्य-जीवन	।=)
२—जीवन-साहित्य	१)
३—तामिल वेद	॥।)
४—व्यसन और व्यभिचार	॥।=)
५—(अप्राप्य)	
६—भारत के स्त्री-रत्न (तीन भाग)	३)
७—अनोखा (विक्टर ह्यूगो)	१।=)
८—ब्रह्मचर्य-विज्ञान	॥।=)
९—यूरोप का इतिहास	२)
१०—समाज-विज्ञान	१॥)
११—खद्दर का सम्पत्तिशास्त्र	॥।≡)
१२—गोरों का प्रभुत्व	॥।=)
१३—(अप्राप्य)	
१४—दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह	१।)
१५—(अप्राप्य)	
१६—अनीति की राह पर	॥=)
१७—सीता की अग्नि-परीक्षा	।-)
१८—कन्याशिक्षा	।)
१९—कर्मयोग	।=)
२०—कलवार की करतूत	=)
२१—व्यावहारिक सभ्यता	॥)
२२—अँधेरे में उजाला	॥)
२३—(अप्राप्य)	
२४—(अप्राप्य)	
२५—स्त्री और पुरुष	॥)
२६—घरों की सफ़ाई	।=)
२७—क्या करें ?	१॥=)
२८—(अप्राप्य)	
२९—आत्मोपदेश	।)
३०—(अप्राप्य)	
३१—जब अंग्रेज़ नहीं आये थे—	।)
३२—(अप्राप्य)	॥=)
३३—श्रीरामचरित्र	१)
३४—आश्रम-हरिणी	।)
३५—हिन्दी-मराठी-कोष	२)
३६—स्वाधीनता के सिद्धान्त	॥)
३७—महान् मातृत्व की ओर	॥।=)
३८—शिवाजी की योग्यता	।=)
३९—तरंगित हृदय	॥)
४०—नरमेध	१॥)